UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL)

मूल्य : 100 रुपये
ISSN 0973-1490

चिन्तन-सृजन

वर्ष-22 त्रैमासिक अंक : 4 (अप्रैल-जून, 2025)

www.asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 22 अंक : 4 (अप्रैल-जून, 2025)

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

सम्पादक

डॉ. शिवनारायण

▼

परामर्शी मंडल

श्री पी.सी. हलधर
अध्यक्ष, आस्था भारती, दिल्ली

प्रो. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. देवशंकर नवीन
प्रोफेसर, हिन्दी, जे.एन.यू., दिल्ली

प्रो. चिट्टि अन्नपूर्णा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

आस्था भारती
दिल्ली–110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	400.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	600.00 रुपये
विदेशों में	$ 60

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	100.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 16

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

फ्लैट नं.–371, वंदनवाड़ी अपार्टमेन्ट, प्लॉट–8, सेक्टर–10, द्वारिका, नई दिल्ली–110075

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई–33, सेक्टर–ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद–201103 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

ई–मेल : asthabharati1@gmail.com / shivnarayan22@yahoo.com

वेबसाईट : www.asthabharati.org

चिन्तन–सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक/आस्था भारती की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

बर्बर समय से प्रेम 5
डॉ. शिवनारायण

साहित्य–चिंतन

1. भारत–भारतीः बौद्धिक स्वराज का प्रतिदर्श 10
प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
2. सुभद्राकुमारी चौहान की कवताि में सांस्कृतिक चेतना 23
मेघा सिंह
3. प्रेम की परंपरा और महनोहर जोशी का कथा व कथेतर साहित्य 31
शिखा गर्ग
4. कबीर के कल्याणकारी राज्य की संकल्पना 37
डॉ. शैलेन्द्र सिंह
5. हिंदी काव्य में आधुनिकता 43
शिला कुमारी

अस्मिता–चिंतन

6. निर्मला पुतुल की कविताओं में उनका अंचल 52
दीपक ठाकुर
7. दूसरे दशक के उपन्यासों में चित्रित नारी जीवन 59
मारिया पीटर
8. दलित चेतना व आंदोलन के विकास में.... 66
डॉ. रवि रंजन
9. 21वीं सदी के उपन्यासों में वृद्ध जीवन 71
एम. पोन्नैया

लोक–ग्राम्यचिंतन

10. बुंदेली लोक साहित्य के विविध आयाम 77
डॉ. ज्योति गौतम

11. बलराम के कथा साहित्य में ग्रामीण संवेदना 83
भाग्यश्री श्रीकांत कोलकंठे

12 राकेश रंजन की कविताओं में लोक मर्म 87
कुमारी कंचन

विविधा–चिंतन

13. भारतवर्ष का आदिधर्म रहा है आजीवक 95
कैलाश दहिया

14. पुस्तक और मीडिया : एक अध्ययन 105
धर्मवीर सिंह

15. रूस–यूक्रेन संघर्ष का एक अध्ययन 111
डॉ. मृणाल गौरव

16. राष्ट्रीय राजमार्गों के संदर्भ में ग्रामीण पारिवारिक संरचना में परिवर्तन 121
दीपक मिश्रा/हेमेन्द्र सिंह

■

मन व्याकरण से नहीं, मृदु भावों से संचरित होता है, इसलिए उसका उत्सव प्रेम है। मन में पूर्व निर्धारित विचार नहीं होते, होते हैं हवा के सहारे फूलों से फूलों तक बहने वाले भाव। इस भाव का आनंद वही ले सकता, जो हवा के छुवन का अनुभव करते हुए फूलों की भाषा समझ सकता है। वास्तव में यह अंतर से अंतर की यात्रा है। इसे बुद्धि से नहीं से नहीं समझा जा सकता। इसलिए बुद्धि के बादशाह होते हुए भी बुद्ध यशोधरा की भावना तक पहुँच नहीं पाए। बुद्ध बुद्धि के मार्ग से मुक्ति तक गये, जबकि यशोधरा मृदु भावना के मार्ग से वहाँ तक पहुंची। बुद्धि में तर्क है, भाव में समर्पण। तर्क संतुष्ट करता है और समर्पण मुग्ध।

– ऐसेन्स

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

बर्बर समय से प्रेम

डॉ० शिवनारायण

आजकल मनीषा गहन अवसाद में है। तनाव में राकेश भी है। दोनों एक दूसरे से मुक्ति चाहते हैं। मुक्ति की पहल पहले कौन करे, किन तर्कों से करे, यही उनमें तय नहीं हो पा रहा। लगभग तीन वर्षों से दोनों साथ रहते हैं। मनीषा एक निजी बैंक में अधिकारी है, जबकि राकेश एक लोकल न्यूज़ चौनल का हेड है। एम.बी.ए, के कोर्स में दोनों साथ थे। वहीं पहचान बनी और बढ़ी तो फिर बढ़ती ही गई। दोनों के जीवन जीने के बिंदास सलीके ने उन्हें एक दूसरे के करीब लाया। उनके एम.बी.ए, का कोर्स समाप्त हो गया, लेकिन उनका मिलना–जुलना नहीं। दोनों के विचार मिलते थे। मन एक था। आगे चलकर तन भी एक हो गया। मित्रों ने सलाह दी कि वे विवाह कर लें, पर रिश्ते का बंधन उन्हें स्वीकार न था। वे मुक्त–स्वच्छंद जीवन के आकांक्षी थे। साथ रहने लगे किराये के फ्लैट में। मित्रों–रिश्तेदारों से झूठ कहा कि उन दोनों ने मंदिर में विवाह कर लिया है। कोर्ट में विवाह–रजिस्टर भी कराया है। बस, यहीं उनसे चूक हो गई।

मनीषा मानती है कि उसने ही अपने अत्याधुनिक विचारों के आवेग में राकेश से सहजीवन का प्रस्ताव किया था, जिसे उसने सहर्ष मान लिया। मनीषा ने अपनी तीन–तीन बहनों के दांपत्य को नर्क बनते देखा था। उनके माँ–पिता का दांपत्य भी कहाँ सुखी रहा! विवाह के नाम से ही मनीषा दहशत से भर जाती थी। उसे 'लिव इन रिलेशनशिप' विवाह से बेहतर विकल्प जान पड़ा। परिवार के लोग तो चाहते थे कि वह विवाह कर सुखी जीवन जिये। यदि वह राकेश को ही पसंद करती है तो उससे विवाह कर ले। मनीषा ने लगभग दो वर्षों तक विवाह टाला, लेकिन जब परिजनों का दबाव बढ़ने लगा तो उसने राकेश से विवाह कर लेने का 'झूठ' बयान कर दिया। राकेश को भी अपने परिजनों से प्रतिरोध झेलना पड़ा। उसे मनीषा से प्रेम था। उस प्रेम के लिए वह कुछ भी कर सकता था। उसने हर संभव प्रयत्न किया कि मनीषा से उसका निर्द्वंद्व प्रेम अनुकूल परिवेश में परवान चढ़ता जाए, लेकिन समाज और परिवार से तालमेल न बिठा पाने के कारण स्थितियाँ ऐसी होती गईं कि वह तल्खियों को अपने दांपत्य में प्रवेश करने से रोक न सका। वह तनाव में रहने लगा। मनीषा दो–दो बार गर्भपात करवा चुकी थी, लेकिन तीसरी बार वह माँ बनने के सुख की लालसा पालने लगी। यहीं से दोनों के बीच अनबन शुरू हुई।

पिता राकेश भी बनना चाहता था। वह पिता बनने से पूर्व बस इतना चाहता था कि मनीषा से उसके रिश्ते का नाम तय हो जाए। मतलब यह कि वह 'जीवन साथी' के बजाय उसका 'पति' कहलाए। ऐसा वह क्यों चाहने लगा, इसका कोई कारण नहीं बता सकता था। परंपरा और संस्कृति के नाम पर 'विवाह' के बंधन में जकड़कर वह अपने जीवन को नर्क नहीं बनाना चाहता था, फिर भी वह स्वयं को मनीषा का पति कहलाना चाहता था। मनीषा उसे 'पति' मानने को हरगिज तैयार न थी और न ही 'विवाह' के बंधन में जकड़ना। बस, यहीं से दोनों के बीच कुछ दरक–सा गया। मनीषा को तीसरी बार गर्भपात करवाना पड़ा। दोनों के संबंध दरकते चले गए। आज भी रहते दोनों साथ ही हैं, बिल्कुल पति–पत्नी की तरह ही, पर जीवन बिल्कुल यंत्रवत है उनका। न मनीषा अलग रहने का साहस जुटा पाती है और न राकेश ही अलग रहना चाहता है। समाज को पता है कि दोनों 'विवाहित' हैं! अब 'विवाहित' न सही, पर 'सहजीवन' का ही आनंद उनमें कहाँ है? संबंधों की जिस मुक्ति में सुख की कामना उन्होंने की थी, उसकी 'कैद' में खुद ही जा फँसे!

भारतीय समाज की सामासिक संस्कृति के जिस परिवेश में यहाँ के युवा पलते–बढ़ते हैं, उसमें पाश्चात्य मुल्कों की मेट्रो पोलिटन कल्चर के प्रति जबरदस्त आकर्षण के बावजूद क्या उन जीवन–मूल्यों को वे आत्मसात कर पा रहे हैं? 'विवाह' संस्था में हजार खामियाँ हो सकती हैं, लेकिन क्या उसका कोई विकल्प उभर कर सामने आ रहा है? 'लिव इन रिलेशनशिप' या 'सहजीवन' में उसके विकल्प की छाया भी है क्या? युवा मन जड़ता के प्रतिरोध में विद्रोह करता है। यह स्वाभाविक है। 'विवाह' उसे जड़ लगता है, इसलिए वह पश्चिम के 'लिव इन रिलेशनशिप' की स्वच्छंदता के प्रवाह में बह जाता है, बगैर यह चिंतन किए कि क्या वह 'विवाह' का विकल्प बन सकता है? 'विवाह' हो या 'लिव इन रिलेशनशिप' दोनों में मूल है प्रेम, जिसकी खोज होनी चाहिए। प्रेम के कारण जो संबंध बनते हैं, स्त्री–पुरुष के संबंध, इनमें दो बातें निहित हैं कि जहाँ भारत में संबंध पहले शरीर से शुरू होता है और प्रेम बाद में पल्लवित होता है, वहीं पश्चिमी मुल्कों में पहले प्रेम होता है, फिर विवाह। देखा जाए तो शरीर स्थाई होता है और मन अस्थाई अर्थात चंचल। शरीर बदलता नहीं और मन बदलता रहता है। यही कारण है कि शरीर से आरंभ हुआ संबंध अस्थाई होने के कारण टूट जाता है। भारत में विवाह तमाम खामियों के बावजूद शीघ्र टूटता नहीं, जबकि उसमें प्रेम की सुगंधि प्रायः नहीं मिलती। बिना प्रेम के स्त्री–पुरुष दैहिक संबंध एक–दूसरे के प्रति की गई आत्मरति मात्र होती है। इसमें काम की जैविक अनिवार्यता की पूर्ति (बॉयोलॉजिकल नीड ऑफ सेक्स) मात्र होती है, जिसका मूल प्रेम में कोई स्थान नहीं होता। पूरब और पश्चिम के प्रेम–दर्शन में यही मौलिक अंतर है।

पश्चिम के, मन से आरंभ हुए प्रेम के प्रति युवाओं का आकर्षण स्वाभाविक है। देखा जाए तो प्रेम का आधार ही मन है। मन विज्ञान के कार्य–कारण या तर्क–वितर्क की परिधि से मुक्त होता है। मन का आधार शरीर है। इसलिए प्रेम

शरीर से मन अर्थात स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है। वस्तुतः यहीं प्रेम अध्यात्म का विज्ञान हो जाता है, जहाँ प्रेम को कामजनित माना गया। काम जितना शरीर का व्यापार होता है, उससे कहीं अधिक यह मन का व्यापार है। आमतौर पर मन से मन के जुड़ने को प्रेम नाम से जाना जाता है। तमाम विभिन्नताओं के बावजूद पूरे संसार में यह मान्य है कि इन सबके मूल में है काम। यहाँ जड़ है काम और उसका फूल है प्रेम। फूलों की सुगंध से हम जितना आनंदित हो लें, किंतु उसकी निरंतरता की ऊर्जा जड़ के सिंचन में है। जड़ के सिंचन के वगैर फूल की जो स्थिति होगी, वही काम के बिना प्रेम की होती है। प्रेम में खुशबू के लिए उसका कामजनित होना स्वाभाविक है। यही मन का व्यापार है। इस व्यापार में युवा मन इसलिए उलझ जाता है कि यहाँ प्रेम कामजनित है। फिर मनुष्य के भीतर कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो आदिमकाल से लेकर आजतक पूर्ववत् है। प्रेम ऐसी ही एक आदिम प्रवृत्ति है, जो प्रत्येक युग के परिवर्तन से अप्रभावित रही है। चाहे आदम और ईव का आदिम युग रहा हो या फिर चाँद पर गाँव बसाने वाले आज का वैज्ञानिक युग। हर युग में प्रेम मनुष्य को आंदोलित करता रहा है। अब आज के जमाने पर 'सह जीवन' के नितांत दैहिक होने के चाहे जितने आरोप लगें, परंतु यदि मुम्बई जैसे विशुद्ध व्यावसायिक नगर में कोई युवक प्रेमिका द्वारा ठुकरा दिए जाने पर छत से कूदकर आत्महत्या कर लेता है अथवा कघरावली जैसे नितांत पिछड़े गाँव में सतीश और सरिता, यह जानते हुए भी कि पंचायत का फैसला कबिलाई हो सकता है, भरी सभा में उपस्थित होने का साहस जुटाकर मौत का शिकार होते हैं तो इस प्रकार की कारुणिक या साहसिक घटनाओं से साबित होता है कि प्रेम कोई ऐसी सघन अनुभूति है, जो विज्ञान और चेतना के सामयिक खाँचों में फिट नहीं बैठती। इसलिए महत्त्व 'विवाह' या 'लिव इन रिलेशनशिप' की सत्ता से कहीं अधिक उसमें निहित प्रेम का है, जिसकी तलाश के आधार पर ही उसकी मीमांसा की जानी चाहिए।

मनीषा यदि 'विवाह' से बिदकती है तो उसके मूल में उसकी बहनों सहित उसके माता–पिता का असफल दांपत्य है और आवरण में भी वह सहजीवन के प्रति अटूट लगाव रखती है। राकेश पिता बनने के लिए 'रिश्ते का आवरण' चाहता है। देखा जाए तो दोनों में कोई भी 'विवाह' से विद्रोह नहीं करता, वह सिर्फ अपनी सुविधा के जीवन की गारंटी न पाकर ही उससे बिदकता है। प्रेम की तलाश दोनों को है। उन दोनों को ही क्यों, सबको होती है प्रेम की तलाश! यही तलाश उसे 'सहजीवन' की ओर ले जाती है। इसी तलाश में वह 'विवाह' संस्था से विद्रोह करता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में कोई भी धर्म या जाति बिना विवाह किए स्त्री–पुरुष का साथ रहना स्वीकार नहीं करता। इसलिए 'विवाह' और 'सहजीवन' संबंधों की मुक्ति नहीं, बल्कि संबंधों में प्रेम की तलाश है! कम–से–कम भारतीय परिवेश में तो यही है, इसलिए विश्व में तलाक की दर देखें, तो भारत में पश्चिमी मुल्कों की अपेक्षा यह अत्यंत न्यून है। एक आँकड़े के अनुसार स्वीडन में तलाक दर 54.9 प्रतिशत, अमेरिका में 54.8, डेनमार्क में 44.5, रूस में 43.3, ब्रिटेन में 42.

6, जर्मनी में 39.4, फ्रांस में 38.3, कनाडा में 37.0, पुर्तगाल में 26.2, सिंगापुर में 17.2, इटली में 10.0, तुर्की में 6.0, जापान में 1.9, श्रीलंका में 1.5 तो भारत में केवल 1.1 प्रतिशत ही है।

इधर लिव इन रिलेशनशिप को लेकर भारत में विमर्श का नया दौर आरंभ हुआ है। इस नए तरह के संबंध को कानूनी मान्यता देने की वकालत करने वालों की जमात बड़ी होती जा रही है तो इस तरह के खुले स्वच्छंद संबंध से विवाह जैसी सामाजिक संस्था को चोट पहुँचने की आशंका की दुहाई देने वाले भी कम नहीं हैं। हालाँकि बीते दिनों उच्चतम न्यायालय ने अंतिम रूप से लिव इन रिलेशनशिप को मान्यता देने से इनकार कर दिया, पर सामाजिक बहस को तो किसी कानून से रोका नहीं जा सकता। 'विवाह' और 'लिव इन रिलेशनशिप', (सह जीवन) के मूल में चाहे प्रेम की तलाश हो, परंतु दोनों की संरचना परस्पर प्रतिलोमी है। 'विवाह' स्वच्छंदता के खिलाफ एक सामाजिक अनुशासन है तो 'लिव इन रिलेशनशिप' इस अनुशासन का प्रतिरोध। 'विवाह' से पूर्व भी 'सहजीवन' था। 'विवाह' का अनुशासन तो उद्दालक ने बनाया। अपने बेटे श्वेतकेतु की शादी से। कहते हैं कि एक बार उद्दालक अपने दरबार में बैठा था, जहाँ उसकी पत्नी भी साथ थी। तभी वहाँ एक ब्राह्मण ने प्रवेश किया। कुछ समय बाद देखा गया कि उद्दालक की पत्नी उस ब्राह्मण के साथ चली गई। दोनों ने एक–दूसरे को पसंद कर लिया था। उद्दालक ने अपनी संगिनी (तब पत्नी को संगिनी ही कहा जाता था) से ब्राह्मण के साथ जाने का कारण पूछा तो उसने बेलाग कहा कि उसे वह अच्छा लगने लगा है और फिर यह उसकी अपनी स्वतंत्रता है कि वह किसके साथ रहे! उद्दालक को इससे धक्का लगा। उसने संगिनी के जीवन–भर साथ बंधे रहने की तरकीब के बारे में सोचना आरंभ किया। फिर उसने 'विवाह' संस्था का गठन किया और उसकी पूरी संरचना–विधि की परंपरा विकसित की। उसके बाद कोई स्त्री किसी के साथ अपनी मर्जी से चली जाए, उसकी इस स्वतंत्रता पर पाबंदी लग गई। उस अनुशासन का पालन आज तक हो रहा है। इस तरह, स्त्री–पुरुष के साथ रहने की परंपरा के निषेध से ही 'विवाह' संस्था का जन्म हुआ।

आज 'विवाह' संस्था को भी नाना प्रकार की जड़ता ने घेर लिया है, जिस कारण प्रेम उससे विलुप्त हो गया। अब उसके विकल्प में फिर से 'सहजीवन' की वकालत की जा रही है। युवाओं का मन 'सहजीवन' के लिए अधिक ललकता है। आज तक जिन युवा जोड़ों ने 'सहजीवन' को अपने जीवन का आधार बनाया, कहते हैं उनमें कोई भी जोड़ा सफल दांपत्य जीवन नहीं जी पाया। सन् 1974 के बिहार आंदोलन में अनेक युवा जोड़ों ने सहजीवन की घोषणा की थी, आज प्रायः सभी जोड़े तनाव में जी रहे हैं। समय–समय पर 'विवाह' के कितने ही अन्य विकल्पों की तलाश भी की गई, लेकिन कोई कालप्रवाह में टिक न पाया। आधुनिकता के नाम पर युवा जोड़ों ने कितने ही प्रयोग किए, परिवार या समाज से विद्रोह किए, पर 'विवाह' की सत्ता को वे हिला तक नहीं पाए। 'सहजीवन' में

स्वच्छंदता का भाव अधिक प्रबल रहता है, जबकि दायित्व की भावना कम। प्रेम स्वच्छंद तो होता है, किंतु दायित्व से मुक्त नहीं। 'विवाह' में ये दोनों बातें होती हैं, इसलिए अनेक खामियों के बावजूद वह किसी भी प्रहार से हिल तक नहीं पाता। 'सहजीवन' को स्वीकार करना जितना सरल है, उसे निभाना उतना ही कठिन। उसे पग–पग पर नाना चुनौतियों का सामना करना होता है। उस कठिन व्रत को निभा ले पाने की क्षमता कम ही जोड़ियों में हो सकती है। आज स्थिति यह है कि बावजूद तमाम आधुनिकता और खुलेपन के भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में लड़कियाँ दुल्हन के जोड़े पहनने के अरमान को नहीं भूल पातीं और न ही लड़कों ने सेहरा बाँधना या घोड़ी चढ़ना ही छोड़ा है। मतलब यह कि जीवन किसी अंकगणित से नहीं चलता। वह चलता है आपसी समझदारी और रिश्तों में अटूट प्रेम के बंधन से। रिश्ते का नाम कुछ भी हो, उनमें यदि प्रेम नहीं है तो वह टिक नहीं सकता।

आज मनीषा और राकेश का रिश्ता अनाम होकर भी लड़खड़ा रहा है। उसके रिश्ते का कोई नाम होता, तब भी लड़खड़ा रहा होता। जाने कितनी मनीषा और कितने ही राकेश परस्पर साथ रहकर भी आज गहन अवसाद में जी रहे हैं। वे अवसाद में जीने को अभिशप्त हैं, क्योंकि 'सहजीवन' हो या 'विवाह', जिस किसी व्यवस्था को भी अपने लिए वे चुनते हैं, उनसे प्रेम की ऊर्जा उन्हें नहीं मिलती। प्रेम व्यवस्था में होता भी नहीं। वह तो अपने अंदर होता है। तो अपने अंदर प्रेम का स्रोत सूखता जा रहा है, जिसके कारणों की पड़ताल न कर किसी व्यवस्था की खामियों पर सिर धुनते रहते हैं। वे प्रेम को व्यवस्था में खोजते हैं और न मिलने पर हताश होते हैं। वे उसे अपने अंदर खोजें तो पता चलेगा कि जिस ग्लोबल गाँव में आज हम रह रहे हैं, उसके देवता ने हमारी ऋजुता–सहजता का हरण कर लिया है। हम भौतिक समृद्धियों एवं सुविधाओं की ऐसी अंधी दौड़ में शामिल कर लिए गए हैं, जहाँ हमारी भावना–संवेदना का कोई मोल नहीं है। आज आदमी आदमी नहीं, संसाधन या उपभोक्ता है। सारे जीवनमूल्य तिरोहित हो गए। अपनेपन की जमीन ही न रही तो प्रेम की खेती कैसे होगी! प्रेम की जमीन बंजर होती जा रही है। समय रहते यदि अपनेपन की इस जमीन की ऊर्वरता की रक्षा न की गई तो मनीषा और राकेश जैसे युवक–युवतियों का अवसाद इस देश को कहाँ ले जाएगा, कहना कठिन है! ग्लोबल गाँव के देवता अपने पूँजी साम्राज्य के विस्तार में भावना–संवेदना की खेती ही नहीं, किसी भी खेती की ऊर्वरता को खत्म कर उसे बंजर बनाने को तत्पर हैं, इसलिए समय रहते हमारे रचनाकारों–बुद्धिजीवियों को इस पूँजी संस्कृति के प्रतिरोध में जनसंस्कृति की धार तेज करने में सक्रिय होना चाहिए। क्या इस बर्बर समय में प्रेम को बचाए रखने की जुगत हमारे रचनाकार नहीं करना चाहेंगे?

■

भारत–भारती
बौद्धिक स्वराज का प्रतिदर्श

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह *

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने आधुनिक हिंदी काव्य को बहुत समृद्धि प्रदान की है। वे जिस दौर में रचना कर्म से जुड़े थे, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसी दौर में बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर की रचनाएँ सामने आती हैं। राष्ट्रकवि ने पचास से ऊपर रचनाएँ हिंदी जगत को दी हैं। इनके अलावा उनके बहुत सारे अनुवाद कर्म भी हमारे सामने हैं। उन्होंने बांग्ला से हिंदी में अनुवाद किया है। माइकल मधुसूदन दत्त की कालजयी रचना मेघनादवध का पद्यानुवाद किया है। साथ ही बांग्ला की कुछ अन्य कृतियों का भी अनुवाद किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का भी अनुवाद किया। जहाँ तक हिंदी में मौलिक सर्जनशीलता का सवाल है, उनके कई सारे प्रबंध–काव्य सामने आते हैं। जयद्रथ–वध से लेकर भारत–भारती, द्वापर, यशोधरा, साकेत, विष्णुप्रिया आदि काव्य–कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुप्तजी राष्ट्रीय भावधारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। राष्ट्रीयता के प्रखर गायक के रूप में उन्हें जिस रचना से प्रतिष्ठा मिली वह है – 'भारत–भारती'। इस कृति से उन्हें अपार लोकप्रियता मिली। ध्यातव्य है कि भारत में राष्ट्रीयता का उद्‌भव नवजागरण की कोख से हुआ है। वह नवजागरण की सीढ़ी पार करके हमारे दरवाजे तक पहुँची है। नवजागरणकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है क्योंकि इसी परिवेश में उसने आकार ग्रहण किया। उपनिवेशवाद की जंजीरों में जकड़ा भारतीय समाज अनेक प्रकार की दुश्वारियाँ झेल रहा था। यहाँ यह जानना दिलचस्प होगा कि उस काल में अंग्रेजी शासन द्वारा जनता पर कितने तरह के कर लगाए जा रहे थे। उन्हें न चुकाने पर किस तरह की यातना दी जाती थी। किस तरह से देश के सारे अनाज को जब्त करके अकाल (मानवनिर्मित अकाल) की परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाती थी और जनता को मौत के मुँह में ढकेल दिया जाता था, इन बातों का उल्लेख उस काल के इतिहास लेखकों ने प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर किया गया है।

*संपर्क – पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा मोबाइलः 9404354261 ईमेलः kks5260@gmail-com

मैथिलीशरण गुप्त की कविता में मौजूद राष्ट्रीयता की पड़ताल करते समय एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गुप्त जी पर इतिहासकार रमेशचंद्र दत्त का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। रमेशचंद्र दत्त पहले भारतीय थे जिनका चयन आई. सी.एस. के पद पर हुआ था। उन्होंने इंग्लैंड में रहकर पश्चिमी रहन–सहन को न केवल बाहर से देखा था बल्कि उनके बीच रहकर उसका अनुभव भी प्राप्त किया था। वहाँ के ज्ञान–विज्ञान से वे बहुत गहराई से परिचित हुए थे। भारत आने के बाद सेवारत रहते हुए नए ज्ञान–विज्ञान के आलोक में उन्होंने अपने समाज की आर्थिक स्थिति को सूक्ष्मता से देखा और उसके कारणों का गहन छानबीन करने का प्रयास किया। रमेशचंद्र दत्त की कृतियाँ धीरे–धीरे सामने आईं, जिनसे उपनिवेशवाद के काल में भारतीय समाज की आर्थिक स्थिति की सटीक जानकारी मिली। मैथिलीशरण गुप्त जी ने उनकी कृतियों को न केवल पढ़ा था वरन् उनके विचारों को भी आत्मसात किया था। दत्त ने बेहद प्रामाणिक ढंग से यह सिद्ध किया कि उपनिवेशवाद के दौर में अंग्रेजों ने भारतीय जनता का चौतरफा शोषण कर अंधेरे में भटकने के लिए छोड़ दिया था। अपने देश और समाज से, उसकी परंपरा से भारतीय जनता को काट कर ही ऐसा किया जा सकता था। बौद्धिक और सांस्कृतिक धरातल पर उसे अल्पज्ञानी और रूढ़िवादी कहा गया और उसे हीनता बोध से भरने का कुत्सित प्रयास कर अंग्रेजी सत्ता ने लोगों को गुमराह किया। मैथिलीशरण गुप्त ने उसके पाखंड को ढंग से समझा था और उस पर अचूक प्रहार किया था। अपनी ऐतिहासिक–सांस्कृतिक विरासत की पहचान पर जोर देकर वे इसी साजिश का पर्दाफाश करते हैं और भारत विरोधी शक्तियों का मुँहतोड़ जवाब देते हैं।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'भारत–भारती' है। उसकी कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

'मानस–भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती
भगवान! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।'

कविवर गुप्त जी नए सिरे से भारतवर्ष में स्वाधीनता–राष्ट्रीयता का स्वर गूँजायमान करना चाहते हैं। उनका चिंतन भारतीय ऋषि–मुनियों की चिंतन परंपरा की आधुनिक कड़ी के रूप में अभिव्यक्त होता है जिसके केंद्र में मनुष्य मात्र का कल्याण था। उनका चिंतन किसी पुरस्कार अथवा पदवी की प्राप्ति के लिए नहीं था। वे अपनी राष्ट्रीयता का तार उन्हीं ऋषियों, आचार्यों और मनीषियों से जोड़ना सार्थक मानते हैं। 'भारत–भारती' में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों में परंपरा का प्रबल प्रवाह दिखाई पड़ता है। उनके पहले जिन चिंतकों ने इस देश की दशा पर और समाज में मौजूद कुरीतियों पर विचार किया था उनमें राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महादेव गोविंद रानाडे, महर्षि अरविंद, रमण महर्षि, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, पंडित मदनमोहन मालवीय आदि का नाम प्रमुख है। इन सभी चिंतकों ने अपने विचार से भारतीय समाज को आंदोलित किया था।

उसी पृष्ठभूमि में स्वतंत्रता आंदोलन ने गति पकड़ी। उस सांस्कृतिक आंदोलन का प्रभाव स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े नेताओं के विचारों पर गहरे रूप में दिखाई पड़ता है। गुप्त जी के चिंतन को इन सितारों ने गहराई से प्रभावित किया है। 'भारत–भारती' को कवि ने तीन खंडों में विभाजित किया है। पहला है – अतीत खंड दूसरा – वर्तमान खंड और तीसरा – भविष्यत् खंड। एक बात तो तय है कि गुप्त जी अपने जीवन में वैष्णव परंपरा से बहुत गहराई से जुड़े हुए थे। असंख्य भारतीय जनता की तरह वे भी राम और कृष्ण को अपना आराध्य मानते थे। रामायण और महाभारत तो युगों–युगों से संपूर्ण भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ के रूप समादृत हैं। भारत की सभी भाषाओं में इन दोनों ग्रंथों के प्रति आदर लगातार बना हुआ है। हिंदी का भक्तिकाल स्वयं इसका एक बड़ा प्रमाण है। यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त भी अपनी रचनाशीलता के सफर में इन दोनों महान ग्रंथों को बराबर याद करते हैं। वे वैदिक युग के ऋषियों की चिंतन परंपरा से कुछ न कुछ लेने के लिए बराबर उद्यत रहते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीयता की चर्चा करते हुए एक बात पर हमेशा ध्यान देना चाहिए कि उनकी राष्ट्रीयता के केंद्र में वर्तमान की परेशानियाँ हैं। वर्तमान भारतीय समाज जिन समस्याओं से जूझ रहा था, वे सब गुप्त जी के मानस में उमड़ती–घुमड़ती रहती हैं। उनका संवेदनशील मन इन परेशानियों से समाज की मुक्ति की कामना करता है।

> राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने आधुनिक हिंदी काव्य को बहुत समृद्धि प्रदान की है। वे जिस दौर में रचना कर्म से जुड़े थे, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसी दौर में बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर की रचनाएँ सामने आती हैं। राष्ट्रकवि ने पचास से ऊपर रचनाएँ हिंदी जगत को दी हैं। इनके अलावा उनके बहुत सारे अनुवाद कर्म भी हमारे सामने हैं। उन्होंने बांग्ला से हिंदी में अनुवाद किया है। माइकल मधुसूदन दत्त की कालजयी रचना मेघनादवध का पद्यानुवाद किया है। साथ ही बांग्ला की कुछ अन्य कृतियों का भी अनुवाद किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का भी अनुवाद किया। जहाँ तक हिंदी में मौलिक सर्जनशीलता का सवाल है, उनके कई सारे प्रबंध–काव्य सामने आते हैं। जयद्रथ–वध से लेकर भारत–भारती, द्वापर, यशोधरा, साकेत, विष्णुप्रिया आदि काव्य–कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

देश की आत्मा युगों–युगों से महाभारत और रामायण के चरित्रों में निवास करती है। इन दोनों ग्रंथों के नायक कृष्ण और राम न केवल जनता के आदर्श चरित्र हैं बल्कि समाज को दिशा देने का भी कार्य करते हैं। इस प्रसंग में डॉ.

राममनोहर लोहिया का मत अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका मत है कि, भारत का जनमानस जितना मिथकों से संचालित होता है उतना इतिहास से नहीं। यह बात बहुत दूर तक सही है। यह संभव नहीं कि कोई मिथकों की चर्चा करे और उसका प्रभाव जनमानस पर न दिखे। राम, कृष्ण, शिव आदि लोकनायकों की जनमानस में निरंतर उपस्थिति इसका ठोस प्रमाण है। यही कारण है कि मैथिलीशरण गुप्त की संवेदना के तार प्राचीन भारत के मिथकीय चरित्रों से जुड़ते हैं। उन्हीं नायकों को आधार बनाकर वे अपनी रचनाशीलता को गतिमान करते हैं।

देशप्रेम और देशहित राष्ट्रीयता का केंद्रीय भाव होता है। गुप्त जी से पहले जिन कवियों की रचनाओं में देशप्रेम और राष्ट्रीयता अथवा देशहित का स्वर मुखर हुआ है, उनमें भारतेन्दु का नाम प्रमुख है। उनकी देशहित से संबंधित रचनाएँ जन–जन का कंठहार बनीं। भारतेन्दु की एक रचना का शीर्षक है– नाटक। यह निबंध की विधा में लिखी गई है। आधुनिक हिंदी आलोचना में इसे मील का पत्थर माना जाता है। इस निबंध में भारतेन्दु ने 'देश–वत्सलता' नामक मूल्य का उल्लेख किया है। 'देश–वत्सलता' बहुत बड़ा मूल्य है। यही कारण है कि वह भारतेन्दु हरिश्चंद्र से होकर मैथिलीशरण गुप्त तक आता है और पूरे स्वाधीनता आंदोलन में समा जाता है। भारत–भारती का प्रकाशन सन 1912 ई. में हुआ था। उन्होंने यह पुस्तक राजा रामपाल सिंह को समर्पित की है। अपने समर्पण में उन्होंने लिखा है–

'जैसा कुछ हो सका, आपका यह आज्ञा पालन है, लीजै,
भारतमाता की सेवा में इसे आप ही अर्पित कीजे।
मेरी प्रभु से यही विनय है– स्वावलम्ब हमको दीजै,
माँ की इस सुख–दुख कथा से सब पुत्रों का हृदय पसीजे।'

कवि का मंतव्य स्पष्ट है कि अर्पित चाहे कोई करे, चाहे वह राजा हो या रंक, लेकिन अर्पण ग्रहण करने वाली भारत माता है। इसकी संतान होने का गौरव कवि को है। गुप्त जी सबसे पहले भारत–भूमि को नमन करते हैं। उनके इस समर्पण को पढ़ते हुए उन्हीं की लिखी दूसरी कविता याद आती है–मातृभूमि। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं –

'नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य–चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम–प्रवाह फूल तारे मंडन हैं,
बंदी जन खग–वृंद शेष फन सिंहासन हैं!
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इसे वेष की,
है मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।।'

कवि अपनी मातृभूमि से बेहद प्रेम करता है। वह उसके रोम–रोम से प्रेम करता है। उसके लिए यहाँ का प्राकृतिक वातावरण और अधिक रोमांच भर देने वाला है। गुप्त जी की इस कविता के विषय में कवि आलोचक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' बहुत अच्छी राय रखते हैं। उन्होंने इसे अपनी सबसे पसंदीदा कविताओं में शामिल किया है।

भारतभूमि को अनेक मनीषीयों, चिंतकों और कवियों ने अपने विचारों से गरिमा प्रदान की है। यह गुप्त जी के लिए अत्यंत गौरव की बात है। वे बार–बार उन चिंतकों और मनीषियों को याद करते हैं।

'भारत–भारती' का आरंभ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण के बाद कुछ पंक्तियाँ कथा के आधार को रूपायित करती हैं–

'उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखंड है
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तंड है
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति–कला
उत्थान ही जिसका नहीं उसका पतन ही क्या भला?'

सृष्टि के विकास–क्रम में गिरना–चढ़ना, उत्थान–पतन हमेशा लगा रहता है। यह होना मनुष्य होने और जीवित होने की निशानी है। सामाजिक विकास के लिए इस तरह की क्रियाशीलता अत्यंत जरूरी है। कवि का मंतव्य है कि आज जो उदंतमार्तंड है वह कल विलुप्त हो जाए तो इसका आशय यह नहीं कि वह सदैव विलुप्त ही रहेगा। एक निश्चित समय और संघर्ष के बाद वह पुनः अपने प्रकाश से जगत को आलोकित करेगा, यह तय है। इस क्रम में यह भी ध्यान देने योग्य है कि कभी निराला ने मार्तंड को शीतलच्छाय कहा था। निराला की प्रसिद्ध कविता तुलसीदास में इसका उल्लेख मिलता है –

'भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे–तमस्तूर्य दिङ्मंडलय
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमानय
है ऊर्मिल जल, निश्चलत्राण पर शतदल।'

भारत के सांस्कृतिक सूर्य की यह गति तुलसीदास के युग में हुई थी। उपनिवेशवाद ने उसकी चमक छीन लेने में एड़ी–चोटी का जोर लगा रखा था, उसकी आभा को बहुत दूर तक मलिन कर दिया था। कवि अपने देश के गौरव को पुनः हासिल करना चाहता है। इस दृष्टि से भारत–भारती एक विलक्षण रचना है। वे कवि कर्म को अपने देश, समाज और उसकी सांस्कृतिक परंपरा से संबद्ध कर्म मानते हैं–

'कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता?'

स्पष्ट है कि उनके अनुसार विचार की उत्कृष्टता की गारंटी विषय की उत्कृष्टता है। लेकिन आज इस तरह के प्रतिमान अप्रासंगिक हो चुके हैं। छायावाद ने इस तरह के प्रतिमानों को अस्वीकार कर दिया। ध्यातव्य है कि गुप्त जी का समय छायावाद के पहले का है। अतः तदयुगीन विचार और चिंतन का प्रभाव उस रचना पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। गुप्त जी इस बात का पुरजोर समर्थन करते हैं कि विचार द्वितीयक है और विषय प्राथमिक। उनके

अनुसार यदि विषय महत्वपूर्ण है तो विचार निश्चय ही महत्वपूर्ण होंगे।

मैथिलीशरण गुप्त जी ने जिस कालखंड में साहित्य–सृजन आरंभ किया उस समय तक खड़ी बोली हिंदी काव्य–भाषा के रूप में सहज ढंग से स्वीकृत नहीं हो पाई थी। वह लड़खड़ाती हुई चल रही थी। उसमें खुरदरापन मौजूद था। उस खुरदरी जुबान को गुप्त जी ने अपनी काव्य–प्रतिभा से माँजा। उसे काव्य–भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह उनका ऐतिहासिक योगदान है। भारत–भारती को असाधारण लोकप्रियता मिली। आज भी भारत–भारती पढ़ी जाती है। उसका एक अलग पाठक–वर्ग है। जिस जमाने में वह प्रकाशित हुई थी उस समय उसे न असंख्य पाठक मिले थे, उसके अनेक संस्करण छपे थे। स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े लोगों ने भारत–भारती को बहुत गंभीरता से पढ़ा था। उसमें जो मुद्दे उठाए गए हैं, वे बेहद गंभीर हैं। उसमें वही मुद्दे उठाए गए हैं जो बहुत समय से भारतीय जनमानस को उद्वेलित कर रहे थे। महात्मा गांधी ने न केवल इस पुस्तक को पढ़ा था बल्कि उसके संबंध में उन्होंने अच्छी राय व्यक्त की थी। यह अकारण नहीं है कि जिस तरह से मैथिलीशरण गुप्त को राम से सर्वाधिक प्रेम है ठीक उसी तरह महात्मा गांधी के भी आदर्श चरित्र राम ही हैं। उन दोनों लोगों के जुड़ाव का एक कारण राम थे। इसके अलावा एक तथ्य मैथिलीशरण गुप्त के अध्येताओं द्वारा बार–बार प्रस्तुत किया जाता है कि उस युग के लेखकों में गांधी का सर्वाधिक प्रभाव गुप्त जी के ही साहित्य पर पड़ा है। उनकी अधिकांश रचनाओं में गांधी की उपस्थिति दिखाई पड़ती है। उल्लेखनीय है कि गुप्त जी के साहित्य पर गाधी का प्रभाव तो दिखाई पड़ता है लेकिन भारत–भारती की रचना महात्मा गांधी के राजनीतिक जीवन की सक्रियता के पहले हो चुकी थी। गुप्तजी के चिंतन में ढेर सारी चीजें पहले से मौजूद थीं जो बाद में गाँधीजी के यहाँ दिखाई पड़ती हैं। इसका प्रमाण महात्मा गांधी की पुस्तक हिंदी स्वराज है जिसका प्रकाशन सन् 1909 ई. में हुआ था। यह पुस्तक मूलतः गुजराती भाषा में लिखी गई थी। आगे चलकर इसका अनुवाद अंग्रेजी और हिंदी भाषा में हुआ। इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि गुप्त जी ने हिंद स्वराज पढ़ी थी।

मैथिलीशरण गुप्त की विशेषता यह है कि वे अपने युग की दुश्चिंता को व्याख्यायित करने के लिए वेद, पुराण और उपनिषद में जाते हैं लेकिन जाकर वहीं रह नहीं जाते। वहाँ से अपने युग को परिभाषित एवं विश्लेषित करने वाले तत्व लेकर आते हैं। उन्हीं तत्वों अथवा चिंतन से अपने युगीन जनमानस को प्रेरित और आंदोलित करने का कार्य करते हैं। उनकी चिंता का विषय वेद, पुराण और उपनिषद न होकर युगीन औपनिवेशिक दासता से मुक्ति है। इसी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए अपने युगीन जनमानस को वे लगातार आंदोलित करते हैं। वे जिस बात के लिए चिंतित हैं उसकी चिंता उनसे पहले नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु के यहाँ मौजूद है। वे जब कहते हैं–

'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।'

अंग्रेजों द्वारा चलाया जा रहा शासन–प्रशासन सब कुछ ठीक है, लेकिन दुःख की बात यह है कि यहाँ की मेहनत मजदूरी पर दूसरा देश रौशन हो रहा है। यहाँ का धन विदेश जा रहा है। यह बात भारतेन्दु युग के लिए दुःखदायी है और द्विवेदी युग के लिए भी।

मैथिलीशरण गुप्त अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे शोषण और उनकी दमनकारी नीतियों को बहुत गहराई से समझ रहे थे। उनके पास अपना अनुभव जगत तो था ही साथ ही वे इतिहासकार रमेशचंद्र दत्त के विचारों से भी भली–भांति परिचित थे। दत्त ने अंग्रेजी अर्थव्यवस्था की पोल खोली थी। वे अपने समय में चलने वाले शोषण–तंत्र से बाखबर थे। यह अकारण नहीं है कि भारत–भरती में अकाल की चर्चा मिलती है। भारत–भारती का पाठक वर्ग इस बात को जनता है कि उनकी कविता कोरी कल्पना नहीं थी। वे जिस बात का उल्लेख अपनी कविता में करते हैं, उसका प्रमाण पाद टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत भी करते हैं। भारत–भारती में ऐसी टिप्पणियों की संख्या पर्याप्त है। एक जगह उन्होंने अकाल अथवा दुर्भिक्ष से मरने वाले देशवासियों की चर्चा की है। इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि, सन् 1891ई. से 1901ई. के बीच जो भयानक अकाल देश में पड़ा था उसमें एक करोड़ नब्बे लाख (1,90,00,000) भारतीयों ने प्राण गवाँए। उस दर्द को अपनी कविता में ढालने का प्रयास करते हुए उन्होंने लिखा था–

'वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है?
मानो निकालने को परस्पर हड्डियों में टेक है
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसेय
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे!'

प्रश्न यह है कि मैथिलीशरण गुप्त के सामने ऐसा कौन व्यक्ति खड़ा है जिसकी व्यथा को वे वर्णित कर रहे हैं? वे जहाँ से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं वह कुछ और नहीं बल्कि उनके पराधीन भारत की व्यथा–कथा है। इस चिंतन के केंद्र में है – दुःख में आकंठ डूबा हुआ भारतीय जन। यही व्यथा कवि को संवेदना के स्तर पर समाज के साथ गहराई से जोड़ती है। ध्यातव्य है कि श्रेष्ठ बड़ा कवि अपने समय में मौजूद इस तरह की परेशानियों को देखकर विचलित होता है। दुर्भिक्ष का परिणाम यह है कि पेट और पीठ दोनों एक हुए जा रहे हैं। स्मरण हो कि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने भी इस तरह की एक कविता लिखी है जिसका शीर्षक है – भिक्षुक। निराला जी कौन–सा बिंब ग्रहण करते हैं? यह देखना अत्यंत रोचक होगा। 'भिक्षुक' की आरंभिक पंक्तियाँ हैं–

वह आता––
दो टूक कलेजे के करता, पछताता
पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को–भूख मिटाने को

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता,
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'

निराला जी ने जो बिंब खड़ा किया है वह केवल पेट–पीठ एक हो जाने वाले व्यक्ति का नहींय बल्कि उसी में जीने के लिए अभिशप्त व्यक्ति का है। वह चल तो रहा है लेकिन उसमें इतनी शक्ति शेष नहीं है कि वह स्वयं चल पाए। वह लकुटिया के सहारे चल रहा है। ध्यातव्य है कि ऐसे दीन–हीन लोगों का विवरण गुप्त जी भारत–भारती की भूमिका में देते हैं। वे बताते हैं कि ऐसे एक करोड़ नब्बे लाख व्यक्तियों ने प्राण त्याग दिए हैं। अंग्रेजी राज में पड़ने वाले ऐसे दुर्भिक्षों की संख्या अत्यंत बढ़ गई थी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने इस विषय पर गहन शोध के बाद यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि अंग्रेजी राज में पड़ने वाले ऐसे दुर्भिक्ष मानव– निर्मित थे। उपनिवेशवाद की नीतियाँ इसके लिए जिम्मेदार थीं। इस बात का प्रमाण प्रसिद्ध इतिहासकार विलियम डिग्बी की पुस्तक प्रॉसपरस ब्रिटिश इंडिया में मौजूद है। विलियम डिग्बी ने अपनी पुस्तक में भारत में मौजूद अंग्रेज अधिकारी क्लाइव के द्वारा लिखे गए पत्रों के हवाले से कहा है कि, एक विकसित शहर में जिन सुविधाओं का होना महत्वपूर्ण माना जाता था, वे सारी सुविधाएं मुर्शिदाबाद में सन् 1757ई. के पहले से ही मौजूद थीं। वह अधिकारी स्वयं इस तरह की सुविधा को देखकर अचंभित है और कहता है कि यह शहर लंदन की अपेक्षा अत्यंत विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ, घनी आबादी वाला तथा धनी है। इन दोनों शहरों के मध्य कुछ अंतर भी मौजूद है। लंदन की तुलना में यहाँ ऐसे लोग अधिक हैं, जिनके पास अकूत संपत्ति है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 18वीं शताब्दी में बंगाल के मुर्शिदाबाद अत्यधिक विकसित नगर था। मुर्शिदाबाद के सामने उस समय का लंदन गाँव जैसा नजर आता था। इस बात का सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है आज के लंदन का जितना विकास हुआ है, उसके चेहरे पर जो चमक आई है वह कहाँ से आई है? वह भारतीयों के खून और पसीने की कमाई से आने वाली चमक है। भारतीयों की सारी कमाई का उपभोग ब्रिटिश उपनिवेशवाद कर रहा था। जैसे–जैसे लंदन की कांति बढ़ती गई वैसे–वैसे भारत मलिन होता गया। आर्थिक रूप से विपन्न होता गया। उपनिवेशवाद का ऐसा शोषक रूप देखकर गुप्त जी का हृदय विदीर्ण हो जाता है। उन्होंने भारत–भारती में एक जगह लिखा है–

'यदि अन्य देशों को यहाँ से अन्न जाना बंद हो
तो देश फिर संपन्न हो, क्रंदन रुके, आनंद हो।'

गुप्त जी की पंक्तियाँ पढ़कर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह किसी साहित्यकार की उक्ति न होकर आर्थिक इतिहासकार का बयान है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भारत की दासता और गुलामी के दौर में यहाँ का धन, अन्न और यहाँ के मजदूरों का दूसरे देश में भेजा जाना इस देश के लिए अत्यंत घातक सिद्ध हुआ। न केवल गुप्त जी बल्कि उनके पूर्ववर्ती भारतेन्दु हरिश्चंद्र की भी यही धारणा थी कि धन का विदेश चला जाना हमारे लिए अत्यंत दुखद है। देश की

जनता के साथ छल है। गुप्त जी ने इसके प्रभाव की चर्चा करते हुए कहा कि अपने देश का अन्न जब विदेश जाना बंद हो जाएगा तो यहाँ का क्रंदन आनंद में बदल जाएगा और यदि नहीं रुका तो आनंद क्रंदन में बदल जाएगा।

प्रत्येक कवि अपने समय की व्याधियों से अवगत होता है। उसके प्रति समाज के अन्य व्यक्तियों को भी आगाह करने का कार्य करता है। यह प्रवृत्ति गुप्त जी के यहाँ विद्यमान है। अपने समय की व्याधियों और व्यापारों की चर्चा के क्रम में उन्होंने लिखा है–

'संप्रति देश की हमें है गंध भी भाती नहीं,
खस, केवड़ा, बेला, चमेली चित्त में आती नहीं
मस्तक न 'लेवेंडर' बिना अब मस्त होता है अहो!
बस शौक पूरा हो हमारा, देश ऊजड़ क्यों न हो।'

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त 'लेवेंडर' शब्द अत्यंत विचारणीय है। इसका संबंध एक विदेशी कंपनी से है। यह ज्ञात तथ्य है कि भारत में निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण तो सन् 1990 के बाद आता है। यदि इसकी पृष्ठभूमि पर भी विचार कर लें तो यह समय अधिकतम 1980 तक खींचकर ले जाया जा सकता है। लेकिन गुप्त जी के कथन पर विचार किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि आज से लगभग सौ साल पहले ही यह संकट शुरू हो गया था। उस दौर में इस संकट का उत्पन्न होना लाजमी था। वह उपनिवेशवाद का दौर था लेकिन आज तो उससे भी भयंकर रूप में वह संकट हमारे सामने खड़ा है। आज का उपनिवेशवाद उस दौर के उपनिवेशवाद से अधिक जटिल है। वह अलग–अलग रूपों में हमारे सामने आ रहा है। वह हमारे जीवन में इस तरह घुल–मिल गया है कि हमारी संस्कृति का हिस्सा नजर आता है। उसकी पहुँच हमारे शयनकक्ष तक हो गई है। हमारे जीवन का कोई कोना उससे अछूता नहीं है। ऐसे समय में गुप्त जी की चिंता अत्यंत प्रासंगिक है। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में ही वे भारतीय जनता को उपनिवेशवाद के दूरगामी दुष्परिणामों से आगाह करते हैं। वे कहते हैं कि अपने स्वार्थ के लिए लोग देश को उजाड़ने में भी संकोच नहीं करते हैं। दुर्भाग्य से यह स्थिति आज हमारी आँखों के सामने है। उल्लेखनीय है कि महत्वपूर्ण कवि वह होता है जो आने वाले समय की आहट सुन लेता है। गुप्त जी भी आने वाले समय की आहट सुन लेते हैं। इस अर्थ में वे आज भी एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में प्रासंगिक बने हुए हैं।

भारत की दुर्दशा के महत्वपूर्ण कारणों में से एक कारण किसानों की दुर्दशा भी रही है। अंग्रेजी शासन व्यवस्था में भारतीय किसान लगातार विपन्न होते जा रहे थे। किसान मरने को विवश थे। इस दौर में सम्पूर्ण भारत के किसान इसे झेलने के लिए मजबूर थे। उनकी यह स्थिति गुप्त जी को झकझोरती है। यह देखना प्रासंगिक होगा कि गुप्त जी ने किसानों की इस विवशता को कैसे चित्रित किया है। एक किसान का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है–

'हम दूसरों को पाँच सौ की बेचते हैं जब रुई,

सानन्द कहते हैं कि हमको आय क्या अच्छी हुई।
पर दूसरे कहते हैं कि ठहरो, वस्त्र जब हम लायेंगे
तब और पैंतालीस सौ लेकर तुम्हीं से जायेंगे।।'

गुप्त जी ने अंग्रेजों के शोषण रूपी चक्रव्यूह का पर्दाफाश कर दिया है। उस दौर में यहाँ से सस्ते दामों पर कच्चा माल खरीदा जाता था। कच्चे माल को इंग्लैंड ले जाकर उससे कपड़ा बना लिया जाता था। फिर उसी सामान को भारत में लाकर, कम से कम दस गुने मूल्य पर बेचा जाता था। इस पूरे दमन चक्र, रुई खरीदने और उससे कपड़ा बनाकर फिर दस गुने मूल्य पर बेचने को गुप्त जी ने एक कहानी के माध्यम से बता दिया है। गुप्त जी आर्थिक शोषण के चक्रव्यूह को बहुत सूक्ष्म ढंग से विश्लेषित करते हैं। वे सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को भी अत्यंत गहराई से चित्रित करते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त उस दौर के आर्थिक शोषण को खुली निगाह से देख रहे थे। उनकी निगाह अपने समय के मजदूर और किसानों पर भी टिकी हुई थी। वे केवल सांस्कृतिक तत्वों पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि उस दौर में विद्या केंद्रों में ज्ञान की स्थिति तथा साथ ही पैसे के बढ़ते चलन पर भी बनी हुई है। वे बार–बार हमें बताते हैं–

'बिकने लगी विद्या यहाँ अब, शक्ति हो तो क्रय करो
यदि शुल्क आदि न दे सको तो मूर्ख रहकर ही मरो।।'

आज विद्या के व्यापार का जो स्वरूप हमें दिखाई पड़ रहा है उसकी आहट गुप्त जी ने बहुत पहले ही सुन ली थी। उस समय विद्या का सबसे बड़ा व्यापारी हमारे ऊपर शासन कर रहा था। आज वह व्यापार कमजोर होने की जगह और मजबूत हो गया है। उसमें कुछ अन्य शक्तियों का भी हस्तक्षेप बढ़ गया है। इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि शोषण के नए चक्रव्यूह में हम लगातार घिरते चले जा रहे हैं। अगर हम उससे सचेत नहीं हुए तो हमारी परेशानी का बढ़ना सुनिश्चित है। गुप्त जी की निगाह अमेरिका पर भी है। ब्रिटेन उस समय में संपूर्ण दुनिया पर राज कर रहा था लेकिन अमेरिका उस दौर में स्थापित हो चुका था। गुप्त जी ने अमेरिका पर चोट करते हुए लिखा है–

'अमरीकनों के पात्र जूठे साफ कर पंडित हुए
सच्चे स्वदेशी मान से फिर भी नहीं मंडित हुए
दृष्टांत बनते हैं अधिक वे इस कहावत के लिए
बारह बरस दिल्ली रहे पर भाड़ ही झोका किए।'

गुप्त जी की दृष्टि स्पष्ट है कि स्वदेशी वस्तु अथवा ज्ञान ही स्वीकार के योग्य है। स्वदेश का प्रेम अथवा उसके प्रति श्रद्धा जिसके हृदय में नहीं है वह व्यक्ति आदर के योग्य नहीं है। ऐसे लोगों को न तो अपना देश मान देता है और न ही कोई अन्य देश। गुप्त जी की कविताएँ इस बात का बार–बार बोध कराती हैं कि हमें अपने जीवन को बेहतर बनाने का प्रयास लगातार करते रहना चाहिए। वे अपने देश की जनता को बारंबार जगाने अथवा सचेत करने का प्रयास करते

हैं। उनके सामने यह चुनौती रखते हैं कि हमें फिर से वही बल हासिल करना है जिसके लिए संसार भर में पूजे गए थे। उन्होंने 'भविष्यत खंड' में लिखा है–

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, जान लो इसका पता
जो थे कभी गुरु, है न उनमें शिष्य की भी योग्यता?
जो थे सभी के अग्रगामी आज पीछे भी नहीं
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं?'

गुप्त जी 'अतीत खंड' में आर्य जाति का बहुत गुणगान करते हैं, उसके प्रभाव और चमक का वर्णन करते हैं। पढ़कर ऐसा लगता है कि कवि यथार्थ की भूमि से उठकर कल्पना और अतिशयोक्ति की भाव–भूमि पर पहुँच गया है। कवियों को इतनी छूट भी होती है, जिसका प्रयोग गुप्त जी साधिकार करते हैं। लेकिन वही गुप्त जी जब अपने वर्तमान को देखते हैं तब उसी अनुपात में उनको पीड़ा भी होती है, जो कवि को व्यथित एवं आंदोलित करती हैं। यही कारण है कि आज की अवस्था को देखकर वे अत्यंत हतोत्साहित होते हैं। आज की तुलना अपने अतीत से करते हैं। दोनों समय के बीच मौजूद वैपरीत्य उनको व्यथित करता है। यह ध्यान देने वाली बात है कि गुप्त जी की चिंता का केंद्र उनका वर्तमान है न कि अतीत। जो कवि केवल अतीत की चिंता करेगा वह अपने अतीत में जाकर खो जाएगा। यदि कोई भी चिंतक, विचारक अथवा कवि अपने समय और समाज के प्रति अत्यंत सजग है, चिंतित है तो वह अतीत में जाकर वहीं चादर बिछाकर सोता नहीं है। वहाँ जो भी रक्षणीय है, महनीय है, मूल्य से जुड़ा हुआ है उसे लेकर वह अपने समय में आता है। वहाँ से लाए गए तत्वों के सहारे वह अपने समय को बेहतर एवं सुंदर बनाने का प्रयास करता है। यदि गुप्त जी की कविता में इस तरह का प्रयास नहीं दिखता तब हमें आश्चर्य होता। लेकिन ऐसा आश्चर्य यहाँ नहीं है। उन्होंने भारत–भारती के अंत में शुभकामना के रूप में कई छंद लिखे हैं, जिनमें से कुछ द्रष्टव्य हैं–

'सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्तप्रवाह हो,
गुण, शील, साहस, बल तथा सबमें भरा उत्साह हो,
सबके हृदय में सर्वदा समवेदना का दाह हो,
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो।'

उनकी राष्ट्रीयता की अवधारणा में आर्य की उपस्थिति महत्वपूर्ण है। आर्य सभ्यता, आर्य चिंतन और आर्य श्रेष्ठता उनके चिंतन के केंद्र में है। उनके इस विचार को कुछ आलोचकों ने संकीर्णता का द्योतक माना। यह भी बताया कि उनके इस कथन से अनार्य के प्रति उनकी घृणा अथवा अरुचि स्पष्ट रूप से जाहिर होती है। स्मरणीय है कि वे वैष्णव परंपरा से जुड़े हुए थे। वे राम और कृष्ण से जुड़कर जीवनभर गौरवान्वित होते रहे हैं। उनको अपना आदर्श मानते रहे हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के जो बहुत महत्वपूर्ण मूल्य हैं उन्हें वे अपने आचरण में उतारते हैं। ऐसे मैथिलीशरण गुप्त के मानस में किसी तरह का भेदभाव नहीं है। वे किसी भी वर्ण अथवा जाति का वर्णन करने में स्वयं को

लज्जित अथवा अपमानित महसूस नहीं करते हैं। इस वर्णन में वे इन सभी वर्णों, धर्मों अथवा जातियों का ऐतिहासिक वर्णन करते हैं। इस वर्णन के क्रम में वे कहीं भी कुछ ऐसा नहीं कहते हैं जिससे यह ज्ञात हो कि किसी अन्य जाति, वर्ण, धर्म और लिंग को हीनतर और स्वयं को श्रेष्ठतर मानते हैं। लेकिन जब वर्तमान को देखते हैं तब कहते हैं कि हम तो ठीक से पश्चगामी भी नहीं हैं। हमारी स्थिति तो बहुत खराब हो गयी है। वे अपने अतीत के वैभव और वर्तमान की दरिद्रता को देखकर अत्यंत पीड़ित होते हैं। उनका इस तरह से पीड़ित होना स्वाभाविक ही है। उनके काव्य में निश्चित रूप से भविष्य की चिंता दिखाई पड़ती है। वे एक जगह कहते हैं–

'औरों के भावों का ध्यान है मनुष्य गौरव का ज्ञान,
देखें हमें फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार मान।'

स्पष्ट है कि गुप्त जी किसी अन्य व्यक्ति अथवा समुदाय के भावों की उपेक्षा नहीं करना चाहते हैं। वे सभी लोगों के भावों का हृदय से स्वागत करते हैं। उन्होंने जिसे औरों के नाम से संबोधित किया है वह कोई अन्य नहीं बल्कि हमारे ही बीच का व्यक्ति है। वह हमारा ही अंग है। गुप्त जी ने एक जगह लिखा है कि भले ही हमारे आचार–विचार अलग हों लेकिन हम मूलतः एक हैं। आत्मा हमारी एक है –

'अनुदारता दर्शक हमारे दूर सब अविवेक हैं
जितने अधिक हों तन भले लेकिन मन हमारे एक हों
आचार में कुछ भेद हो पर प्रेम हो व्यवहार में'

यह निश्चित है कि हमारा समाज विविधता को सदियों से गले लगाता रहा है। इसी विविधतापूर्ण समाज में सभी जातियों के लिए एक निश्चित जगह हमेशा से मौजूद रही है। इस कार्य में भारतभूमि न कभी कृपणता से काम लेती है और न कभी अनुदारता दिखाती है। मैथिलीशरण गुप्त के यहाँ भी अनुदारता नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि हम अपनी धारणा को गुप्त जी पर लादें तो यह उनके साथ न्याय नहीं होगा। वे जिस वैष्णव परंपरा से जुड़े हुए थे वह परंपरा अत्यंत प्राचीन और उदार है। इसी परंपरा ने एक दौर में बहुत क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। वैष्णव परंपरा का मूल्यांकन उस समाज के युगानुरूप होना चाहिए, जिसमें वह सक्रिय थी। यदि आज के प्रतिमानों के अनुरूप उनका मूल्यांकन किया जाएगा तो निश्चित रूप से हमारे निष्कर्ष गलत होंगे। मैथिलीशरण गुप्त जी की चिंता का मुख्य स्थल व्यवहार में सरसता और तरलता को लाना है। इस आधार पर वे संसार के सभी सुखों को इसके सामने नगण्य मानते हैं। उपर्युक्त पंक्तियाँ वैष्णव परंपरा में गहरी आस्था रखने वाले कवि के हृदय की उद्‌गार है। ऐसे समय में याद आते हैं भक्तिकाल के कवि–तुलसीदास, सूरदास और कबीर। कबीर निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि हैं। लेकिन वैष्णवों के संबंध में उनका मत अत्यंत स्वागत योग्य है। वे वैष्णव के विषय में एक जगह कहते हैं–

'वैष्णव की छतरी भली नहिं साकत को गाँव।'

उल्लेखनीय है कि शक्ति के उपासकों के प्रति कबीर की धारणा ठीक नहीं

है। कबीर मानते हैं कि शक्ति के उपासकों का गाँव भले ही अत्यंत विकसित और सुदीर्घ हो, लेकिन वह त्याज्य है। उनका मत है कि ऐसे विकसित गाँव के महल–अटारी से हजार गुना अच्छी वैष्णवों की झोपड़ी है। यही नहीं उनके काव्य में बार–बार प्रयुक्त राम का नाम कहीं न कहीं वैष्णव परंपरा से सीधे–सीधे आयातित नजर आता है। उनके राम सगुण न होकर निर्गुण ही क्यों न हों। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व वैष्णव परंपरा में पले–बढ़े व्यक्ति का व्यक्तित्व है। जिस दौर में मैथिलीशरण गुप्त काव्य रच रहे थे उस समय साहित्य या काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा के दो बड़े तत्व होते थे – संस्कृत का प्रकांड पंडित होना तथा अंग्रेजी का असाधारण ज्ञान होना। उस समय किसी के ज्ञान का मूल्यांकन इन्हीं दोनों तत्वों के आधार पर होता था। राजनीति से लेकर साहित्य, संस्कृति आदि के क्षेत्र में इन्हीं दो भाषाओं का बोलबाला था। आदर और सम्मान उन्हीं को मिलता था जो इन भाषाओं में रचते या बोलते थे। मैथिलीशरण गुप्त का दोनों में से किसी एक भाषा पर भी उस तरह का अधिकार नहीं था। उन्हें अंग्रेजी और संस्कृत का कार्यसाधक ज्ञान था। अपनी लगन, प्रतिभा और परिश्रम के बल पर उन्होंने एक नई राह बनाई और खड़ी बोली हिंदी में काव्य रचना स्वीकार किया। इस क्रम में उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से जो चिंतन उपस्थित किया, वह भारत की अपनी परंपरा है। गुप्त जी ने इसी परंपरा को नए सिरे से देखने, उसके महत्व को पहचानने तथा आधुनिक जीवन संदर्भों में उसे व्याख्यायित और विश्लेषित करने का सार्थक प्रयास किया। उस युग के अन्य चिंतकों ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनके बाद जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत आदि उस परंपरा में जाते हैं और वहाँ के महनीय मूल्यों को हमारे सामने लाते हैं। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बड़ा कवि वही है जिसकी कविता में बड़े मूल्यों की उपस्थिति हो। ये मूल्य ही पाठकों को उनके जीवन के विभिन्न मोड़ों पर मार्गदर्शन करते हुए प्रतीत होते हैं। गुप्त जी की कविता में मौजूद महनीय भारतीय चिंतन उनकी कविता की महत्ता को बढ़ा देता है, हिंदी पाठकों को अपनी परंपरा को देखने और मूल्यांकित करने की आधुनिक दृष्टि प्रदान करता है। भारत जब–जब विकास की नई सीढ़ियाँ चढ़ेगा तब–तब उसे अपने अतीत को, अपनी परंपरा को जानने की जरूरत पड़ेगी। ऐसे समय में मैथिलीशरण गुप्त बार–बार याद किए जाएंगे, उनकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

■

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं में सांस्कृतिक चेतना

मेघा सिंह *

भारत के राष्ट्रवादी युग की एक प्रमुख कवयित्री और लेखिका सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने वैज्ञानिक सिद्धांतों में गहरे सांस्कृतिक आध्यात्म का संचार किया, जो उनके समय के सामाजिक, राजनीतिक और पारंपरिक लोकाचार से जुड़ा है। उनकी कहानियाँ जो बार–बार राष्ट्रभक्ति, सामाजिक सुधार और लैंगिक अभिलेखों के विषयों पर आधारित हैं, औपनिवेशिक शासन के तहत भारतीय समाज का एक विशद चित्रण प्रस्तुत करती हैं। अपनी सरल लेकिन भावपूर्ण भाषा के माध्यम से, चौहान महिलाओं का संघर्ष, स्वतंत्रता सेनानियों की वीरता और उत्थान के बीच भारतीय संस्कृति के वास्तुशिल्प पर प्रकाश डाला जाता है। यह शोधपत्र चौहान की कहानियों में निहित सांस्कृतिक तत्वों की खोज करता है, विश्लेषण करता है कि वह अपनी कहानियों के लिए लोककथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और पारंपरिक नैतिक सिद्धांतों का उपयोग कैसे करता है। महिला संप्रदाय, जातिगत सलाहकार और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में परिवार की भूमिका के बारे में, इस अध्ययन का उध्देश्य भारतीय पहचान और सामाजिक न्याय पर समकालीन चर्चाओं में उनके कार्य की स्थायी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालना है। चौहान का साहित्यिक योगदान केवल कहानी कहने से परे हैय वे सांस्कृतिक परंपरा और प्रगतिशील विचार के बीच एक सेतु का काम करते हैं। उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय चेतना को आकार देने और सांस्कृतिक अखंडता को बनाए रखने में साहित्य की शक्ति का प्रमाण हैं।

बीज शब्द : सुभद्रा कुमारी चौहान, सांस्कृतिक, चेतना, सांस्कृतिक परंपरा

परिचय : हिंदी साहित्य और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की एक प्रमुख हस्ती सुभद्रा कुमारी चौहान को उनके काव्य और कथात्मक योगदान के लिए व्यापक रूप से जाना जाता है, जो सांस्कृतिक चेतना का सार है। जहाँ उनकी कविताएँ, विशेष रूप से झाँसी की रानी, राष्ट्रवाद और वीरतो का एक प्रतिष्ठित प्रतिनिधित्व बनी हुई हैं, वहीं उनकी लघु कथाएँ भी बहुत साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्व रखती हैं। अपनी सरल लेकिन शक्तिशाली कहानी कहने के माध्यम से, चौहान भारतीय परंपराओं, सामाजिक

***संपर्क** – शोधार्थी, हिंदी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद, मेल–singhmegha376@gmail-com

संरचनाओं और औपनिवेशिक शासन और सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन से जूझ रहे समाज में महिलाओं की उभरती भूमिका के सार को पकड़ती हैं। उनकी कहानियों अक्सर हाशिए के वर्गों के संघर्ष, महिलाओं की दृढ़ता और पारंपरिक मूल्यों पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रभाव को दर्शाती हैं। ऐतिहासिक संदर्भों, लोक परंपराओं और ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को आपस में जोड़कर, चौहान एक ऐसा साहित्यिक परिदृश्य बनाती हैं जो न केवल समकालीन सामाजिक मुद्दों को दर्शाता है बल्कि उन्हें सुधारने का भी प्रयास करता है। उनकी कहानियाँ लैंगिक समानता, जातिगत गतिशीलता और देशभक्ति जैसे विषयों पर जोर देती हैं, जिससे उनकी रचनाएँ सांस्कृतिक संरक्षण और प्रगतिशील विचारों का मिश्रण बन जाती हैं। यह शोधपत्र चौहान की कहानियों में स्पष्ट सांस्कृतिक चेतना पर प्रकाश डालता है, विश्लेषण करता है कि वह साहित्य को समाज को प्रतिबिंबित करने, आलोचना करने और प्रभावित करने के लिए एक उपकरण के रूप में कैसे उपयोग करती है। उनकी कहानी कहने में पारंपरिक तत्वों और आधुनिक प्रवचन में उनकी प्रासंगिकता की खोज करके, इस अध्ययन का उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचान को आकार देने में उनके साहित्यिक योगदान के स्थायी प्रभाव को उजागर करना है।

सुभद्रा जी का समकालीन समाज परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ, हताश एवं निराश हो गया था। विदेशी अधीनता से ग्रस्त एवं त्रस्त समाज के शान्त करुणार्द रोदन से अभिभूत सुभद्रा जी ने गाँधी जी के स्वदेशी आन्दोलन को सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचारित किया। स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े आन्दोलनों में इन्होंने खुलकर भाग लिया और जेल की यात्रा भी की।

सुभद्रा जी जहाँ कहीं भी भारतीय जनमानस को प्रेरित करने तथा उसे दिशा देने की आवश्यकता महसूस करती हैं, वहाँ अतीत की घटनाओं तथा पौराणिक सन्दर्भों का सहारा लेती हैं किन्तु इन्होंने उन्हीं सन्दर्भों को सहारा लिया, जहाँ ओज है, शौर्य है, वीरता है तथा राष्ट्र और समाज के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने की उदात भावना है। 'झाँसी की रानी' शीर्षक रचना की कतिपय प्रमुख पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

'इनकी गाथा छोड़ चले हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेण्ट वॉकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व आसमानों में,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।'

स्वतंत्रता आन्दोलन में सुभद्रा जी की भागीदारी निरन्तर बढती जा रही थी। इनकी 'वीरों का कैसा हो बसन्त?', 'राखी की चुनौती', 'जलियाँवाला बाग में बसन्त', 'विजयादशमी', 'सेनानी का स्वागत' आदि रचनाएँ राष्ट्र भक्तों के गले का हार बन गई।

प्रत्येक युग का अपना एक समाज होता है और उस समाज में अच्छाइयों के साथ–साथ बुराइयों का भी समावेश रहता है। समाज में व्याप्त बुराइयों को देखते हुए सुभद्रा जी के अन्तर्मन में इन बुराइयों को समाज से पृथक् करने की इच्छा जाग्रत हुई।

इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समस्त समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इनके समय में समाज में बाल विवाह, पर्दा प्रथा, विधवा विवाह, छुआछूत आदि सामाजिक बुराइयों व्याप्त थीं जिसका सुभद्रा जी ने विविध क्रियाकलापों एवं रचनाओं के माध्यम से विरोध किया।

सुभद्रा जी के समय धार्मिक स्थिति अच्छी थी। प्रारम्भिक दौर में सनातन धर्म का प्रभाव सम्पूर्ण भारतवर्ष में था परन्तु परिस्थितियों में समयानुसार परिवर्तन हुआ और आर्य समाज का प्रभाव बढ़ने लगा। लोग भाग्यवादी न होकर कर्मवादी होने लगे। कर्म करते रहना चाहिये, फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये इसी भावना ने सबके अन्दर प्रवेश कर लिया था। सुभद्रा जी एक आस्थावान महिला थीं, परमात्मा में पूर्ण निष्ठा रखती थीं किन्तु इस सब के अतिरिक्त इनकी भक्ति विषयक रचनाओं में कवि रूप, राष्ट्र भक्त रूप और सामाजिक रूप एक साथ संयोजित हुए हैं।

सुभद्रा जी का युग देश की पराधीनता का युग था। चतुर्दिक अंग्रेजी शासन होने के कारण देश की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। अंग्रेजों का अत्याचार लगातार बढ़ता जा रहा था, भारतीय जनता किसी प्रकार अपना भरण–पोषण कर रही थी। देश के पढ़े–लिखे लोग अंग्रेजों की गुलामी पसन्द नहीं करते थे इसलिये वे अपना स्वतन्त्र व्यापार करते थे। कुछ लोग पेट के लिये भी अंग्रेजों की गुलामी करने के लिये विवश थे। सुभद्रा जी ने अपने जीवन में अनेक आर्थिक संकटों का सामना किया और हार नहीं मानी।

सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक युग अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। साहित्य में युगानुकूल परिवर्तन स्वाभाविक था, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के प्रकाश में विदेशी सत्ता के उन्मूलन हेतु कवियों ने युगीन शंख ध्वनि की जिससे समाज में पुनर्जागरण हुआ। सुभद्रा जी ने समकालीन समाज में फैली हुई सामाजिक बुराइयों को दूर करने का यथासम्भव प्रयास किया। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान अनेक रचनाकार न केवल राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय थे अपितु इसी के माध्यम के रूप में साहित्य का प्रयोग कर रहे थे। पं० माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की यशस्वी परम्परा में सुभद्रा जी का नाम भी आदरणीय है। सुभद्रा जी ने न केवल राष्ट्र प्रेम से ओत–प्रोत कविताएँ लिखी अपितु विभिन्न सामाजिक समस्याओं, नारी जागरण और प्रकृति को समर्पित अनेक रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान कीं। इनकी कहानियों के विषय भी इसी प्रकार की सामाजिक समस्याओं पर आधारित है।

सुभद्रा जी का काव्य संग्रह 'मुकुल' सन् 1930 में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने लेखिकाओं के लिये सेकसरिया पुरस्कार की घोषणा की थी। 500 रुपर्यो का यह पुरस्कार सर्वप्रथम 'मुकुल' को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सन् 1931 में पहली बार यह पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव सुभद्रा जी को प्राप्त हुआ। सन् 1933 में 'बिखरे मोती' कहानी संग्रह पर सुभद्रा जी को सेकसरिया पुरस्कार मिला। पुरस्कार के रूप में इन्हें 500 रुपये की धनराशि प्राप्त हुई।

सुभद्रा जी का निधन 15 फरवरी, सन् 1948 को बसन्त पंचमी के दिन एक

मोटरकार दुर्घटना में हुआ था। सुभद्रा जी का साहित्य सर्वविदित, सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत है। इनकी महत्वपूर्ण काव्य रचनाएँ 'त्रिधारा', 'मुकुल' तथा 'सभा के खेल' हैं। 'त्रिधारा' काव्य संकलन में देश–प्रेम, वात्सल्य, श्रृंगार, प्रकृति चित्रण, वीरता, नारी स्वतन्त्रता आदि के दर्शन होते हैं। 'मुकुल' काव्य संकलन में राष्ट्रीयता, प्रणय भाव की रचनाएँ, वात्सल्य भाव की रचनाएँ तथा अन्य रचनाएँ संकलित है। 'सभा के खेल में' में देशप्रेम, राष्ट्रीय एकता और बच्चों से सम्बन्धित रचनाएँ हैं।

काव्य–रचनाओं की भाँति इनका कहानी साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध है। इनकी कहानियों में जीवन के विविध रंगों की अभिव्यक्ति हुई है। सुभद्रा जी के कहानी साहित्य के अन्तर्गत 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी', 'सीधे–सादे चित्र' कहानी संग्रह आते हैं। 'बिखरे मोती' कहानी संग्रह में घरेलू जीवन की अन्तरंग झाँकियों को कुशलता के साथ व्यक्त किया गया है।

'उन्मादिनी' कहानी संग्रह में पति–पत्नी के आपसी सम्बन्ध, घर की बहू की स्थिति, स्त्री शिक्षा, पर्दे का बहिष्कार, विधवा–विवाह आदि से सम्बन्धित कहानियाँ है। 'सीधे–सादे चित्र' कहानी संग्रह में देश–प्रेम, साम्प्रदायिक समस्या, हिन्दू–मुस्लिम सद्भावना, जीवन प्रसंग आदि का वर्णन किया गया है।

'त्रिधारा, 'मुकुल', 'सभा का खेल' सुभद्रा जी की ऐसी काव्य रचनाएँ हैं जिनमें राष्ट्रीय कविताएँ, प्रणय भाव की कविताएँ, वात्सल्य भाव की कविताएँ, भक्ति भावना पूर्ण कविताएँ, प्रकृति विषयक कविताएँ, छायावाद से प्रभावित कविताएँ, शोक गीत आदि विविध विषयों की कविताएँ संग्रहित हैं।

'झाँसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो बसन्त', 'राखी की चुनौती', 'जलियाँवाला बाग में बसन्त', 'विजयादशमी', 'विजयी मयूर', 'राखी', 'सेनानी का स्वागत', 'स्वदेश के प्रतिश आदि सुभद्रा जी की राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत रचनाएँ हैं, इनकी एक–एक पंक्ति में राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं। 'प्रेम श्रृंखला', 'अपराधी है कौन, दण्ड का भागी बनता कौन?', 'मनुहार', 'स्वागत–साज', 'करुण कहानी', 'साध', प्रथम दर्शन आदि इनकी प्रणय भाव या श्रृंगार विषयक रचनाएँ हैं। 'बालिका का परिचय', 'उसका रोना', 'मेरा नया बचपन' आदि वात्सल्य भाव की रचनाएँ हैं। जाने दे, 'मानिनि राधे' आदि भक्ति–भाव विषयक रचनाएँ हैं। 'नीम', 'फूल के प्रति', 'शिशिर समीर', 'झिलमिल तारे' आदि सुभद्रा जी की प्रकृति विषयक रचनाएँ हैं। 'प्यार', 'पुत्र वियोग', 'उल्लास' आदि रचनाओं में छायावादी प्रभाव परिलक्षित होता है। सुभद्रा जी ने 'पुत्र वियोग', 'जल समाधि', 'मत जाओ' शोक गीतों की रचना की।

सुभद्रा जी के काव्य विषय के मूल तत्त्व, अपने प्रकृत रूप में पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन से लिये गये हैं जिसके द्वारा उनका रूप निर्माण हुआ था। ये इस पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिधि से अधिक परिचित, निकट और उसके प्रति ईमानदार रहीं। सुभद्रा जी का भाव सौन्दर्य जितना सबल और व्यापक है शिल्पपक्ष उससे भी अधिक निखरा हुआ है। शिल्पपक्ष में सर्वप्रथम इनकी भाषा है जो सरल, सुबोध, स्पष्ट एवं परिमार्जित खड़ी बोली है। उच्चकोटि का प्रतिभाशाली रचनाकार वही है

जिसका भाषा पर पूर्ण अधिकार हो। अपनी सहज प्रतिभा के बल पर अपने काव्य की भाषा को वह एक ऐसी शक्ति प्रदान हो। अपनी सहज प्रतिभा के बल पर अपने काव्य की भाषा को वह एक ऐसी शक्ति प्रदान करती है कि सहज पाठक उस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। सुभद्रा जी का भाषा प्रयोग इस दृष्टि से अनूठा है। इन्होंने भाषा को अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति के समकक्ष बनाकर भाव प्रेषणीयता में अध्दभुत सफलता प्राप्त की।

रस सुभद्रा जी की कविताओं में सर्वव्याप्त है तभी तो वे भावुक पाठक के ह्रदय को अत्यन्त सहज रूप से रसाप्लावित कर देती हैं। वैसे तो इनकी कविताओं में प्रायः सभी रसों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं किन्तु वीर रस का सौन्दर्य विशेष रूप से दर्शनीय है। अलंकारों का प्रयोग कवयित्री दद्वारा कम ही किया गया है और जो थोड़ा प्रयोग है वह शब्दालंकार का है। सुभद्रा जी ने अपने काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुणों का प्रयोग किया है, प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। 'त्रिधारा' में संगृहीत रचनाओं में माधुर्य गुण और राष्ट्रीय विषयक रचनाओं में ओज गुण के दर्शन होते है। बिम्ब और प्रतीक की दृष्टि से इनकी से इनकी रचनाएँ अद्वितीय है, इन्होंने प्रभावशाली ढंग से विषय विषयवस्तु का सम्प्रेषण करने के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया है किन्तु प्रतीकवाद की स्थापना नहीं की है अर्थात् भावों के संकेतार्थ प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। काव्य में नाटकीय शैली का प्रयोग अधिक किया गया है, इन्होंने अपने काव्य में लोक छन्दों को विशेष महत्व नहीं दिया। अपने काव्य में लोक छन्दों की अनेक ध्वनियों का प्रयोग कर उसमें मौलिकता, नूतनता और मधुरता की वृद्धि की है। वाक्य में ही काव्य का सौन्दर्य निहित होता है, इनकी रचनाओं में तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी और उर्दू आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सुभद्रा जी एक उत्कृष्ट कवयित्री होने के साथ ही साथ एक श्रेष्ठ कहानी लेखिका भी थीं। इनकी कहानियाँ वर्गवादी व्यवस्था, भारतीय परिवारों की विचित्र मानसिकता, पुरुष प्रधान समाज के कुप्रभाव, सामंतवादी सोच तथा सामाजिक दबावों से उत्पन्न स्थिति का सफल चित्रण करती हैं। इन्होंने पारिवारिक, सामाजिक, वात्सल्य, नारी विषयक एवं राजनैतिक विषयों को लेकर कहानियाँ लिखी हैं। पारिवारिक कहानियों के अन्तर्गत नारी की विवशता, परम प्राकृत मातृत्व, ईर्ष्याजनित विद्वेष की कहानी तथा पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति प्रेम की कहानियाँ आती हैं। सामाजिक कहानियों के अन्तर्गत विधवाओं की समस्या, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, पर्दा–प्रथा, अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। राजनैतिक कहानियों के अन्तर्गत देशभक्ति, देशद्रोह, हिन्दू–मुसलमान की समस्याएँ आदि से सम्बद्ध कहानियाँ आती हैं।

सुभद्रा जी की कहानियों की विशेषता है उनकी कथन–शैली, कहानी की बुनावट, कथानकों में अचानक विस्मित कर देने वाले परिवर्तन, कहानियों के चरम उत्कर्ष, मन के कोनों में छिपे असद्भावों को भगाने में समर्थ भाव–प्रसंग आदि। सुभद्रा जी की अधिकांश कहानियों के विषय दिन–प्रतिदिन के जीवन से लिये गये हैं। इनकी दैनिक जीवन से सम्बन्धित कहानियों में साधारण से साधारण घटनाओं और पात्रों की योजना हुई है किन्तु इन कहानियों में भी विश्लेषण की सूक्ष्मता विद्यमान है। इनकी ऐसी कहानियाँ

यद्यपि आकार में छोटी हैं फिर भी इनमें कथानक, चरित्र और उद्देश्य का सामंजस्य मिलता है। इनकी कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक अथवा मानव जीवन के किसी चिरन्तन सत्य का उघ्द्घाटन करने वाली भी हैं।

चरित्र–चित्रण की कला में सुभद्रा जी निष्णात हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवेश करके उसके आन्तरिक रहस्यों के उघ्द्घाटन में ये बड़ी कुशल थीं। साधारण से साधारण चरित्र उभारने तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव तथा मनोवृत्ति का विश्लेषण करने में भी ये अत्यन्त प्रवीण थीं। इनकी राजनीतिक और सामाजिक कहानियों के पात्रों में पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता है और चरित्र–चित्रण की सूक्ष्मता मिलती है। मनोभावों के विश्लेषण में सुभद्रा जी सिद्धहस्त थीं। समाज में प्रचलित रुढ़ियों, परम्पराओं के प्रति अन्धविश्वास, पारिवारिक रीति–रिवाज, नारी की दयनीय स्थिति, दहेज प्रथा, विधवा विवाह, वेश्यावृति आदि का चित्रण देशकाल एवं वातावरण के अनुकूल किया गया है।

भारतीय परंपराओं और सामाजिक मानदंडों का चित्रण : सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियाँ औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय समाज के रीति–रिवाजों, परंपराओं और सामाजिक पदानुक्रमों को स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं। उनकी कहानियाँ अक्सर जाति और लिंग भूमिकाओं की कठोर संरचनाओं को दर्शाती हैं, जो उनके दमनकारी पहलुओं और इन बाधाओं को पार करने वाले व्यक्तियों के लचीलेपन दोनों को दर्शाती हैं। अपनी कहानी कहने के माध्यम से, वह परिवार, सामुदायिक मूल्यों और नैतिक अखंडता के महत्व को उजागर करती हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक पहचान के लिए केंद्रीय थे।

सभद्रा कमारी चौहान की कहानियाँ औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय समाज के रीति–रिवाजों, परंपराओं और सामाजिक पदानुक्रमों को स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं। उनकी कहानियाँ अक्सर जाति और लिंग भूमिकाओं की कठोर संरचनाओं को दर्शाती हैं, जो उनके दमनकारी पहलुओं और इन बाधाओं को पार करने वाले व्यक्तियों के लचीलेपन दोनों को दर्शाती हैं। अपनी कहानी कहने के माध्यम से, वह परिवार, सामुदायिक मूल्यों और नैतिक अखंडता के महत्व पर प्रकाश डालती हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक पहचान के लिए केंद्रीय थे। उदाहरण के लिए, चौहान अक्सर पारंपरिक घरों में महिलाओं के जीवन को चित्रित करती हैं, उनकी अधीनता और उनकी खामोश ताकत दोनों पर जोर देती हैं। उनकी कई महिला नायक, सामाजिक प्रतिबंधों का सामना करने के बावजूद, साहस और दृढ़ संकल्प के प्रतीक के रूप में उभरती हैं। ऐसा करके, वह न केवल महिलाओं के संघर्षों की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं, बल्कि अपने समय के सांस्कृतिक ढांचे के भीतर उनके सशक्तिकरण की वकालत भी करती हैं।

महिलाओं की भूमिका और लिंग संवेदनशीलता : चौहान की रचनाओं में एक आवर्ती विषय भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिका है। वह महिलाओं को पालनहार और योदधा दोनों के रूप में प्रस्तत करती हैं, उन्हें पारिवारिक जीवन और बड़े सामाजिक–राजनीतिक क्षेत्र में केंद्रीय व्यक्ति के रूप में दर्शाती हैं। कई समकालीन लेखकों के विपरीत जिन्होंने महिलाओं को महिमामंडित किया या पीड़ित किया, चौहान

ने सांस्कृतिक परंपराओं के भीतर उनकी एजेंसी को प्रदर्शित करते हुए एक संतुलित चित्रण पेश किया। उनकी कहानियाँ अक्सर विधवाओं द्वारा सामना किए जाने वाले अन्याय, बाल विवाह की बाधाओं और महिलाओं की शिक्षा पर लगाई गई सीमाओं को चित्रित करके पितृसत्तात्मक मानदंडों को चुनौती देती हैं। फिर भी, पूरी तरह से विद्रोह करने के बजाय, उनकी महिला पात्र अक्सर पारंपरिक ढांचे के भीतर अपनी व्यक्तिगतता का दावा करती हैं, जिससे लिंग भूमिकाओं की उनकी आलोचना सूक्ष्म और शक्तिशाली दोनों हो जाती है।

चौहान की कहानियों में राष्ट्रवाद और देशभक्ति : भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में चौहान की गहरी भागीदारी उनकी कहानियों में स्पष्ट है, जो अक्सर राष्ट्रवाद और प्रतिरोध के विषयों को दर्शाती हैं। उनकी रचनाएँ ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष में आम लोगों के बलिदान का जश्न मनाती हैं, ऐतिहासिक घटनाओं को बहादुरी और लचीलेपन के काल्पनिक वृत्तांतों के साथ जोड़ती हैं। अपनी कहानियों के माध्यम से, वह सांस्कृतिक गौरव और राष्ट्रीय एकता की भावना को बढ़ावा देती हैं, पाठकों से आत्मनिर्णय के लिए प्रयास करते हुए भारतीय परंपराओं को बनाए रखने का आग्रह करती हैं। रोजमर्रा की जिंदगी के परिदृश्यों में देशभक्ति का जोश भरने की उनकी क्षमता उनके लेखन को न केवल एक साहित्यिक अभिव्यक्ति बनाती है, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जागृति का एक साधन भी बनाती है।

लोक परंपराओं और मौखिक कहानी कहने का प्रभाव : चौहान की साहित्यिक शैली भारत की समृद्ध मौखिक कहानी कहने की परंपरा से गहराई से प्रभावित है। सरल भाषा, लयबद्ध प्रवाह और लोक रूपांकनों का उनका उपयोग उनकी कहानियों को व्यापक दर्शकों के लिए सुलभ बनाता है, जिससे उनकी सांस्कृतिक प्रामाणिकता मजबूत होती है। वह अक्सर क्षेत्रीय कहानियों, कहावतों और ऐतिहासिक उपाख्यानों का सहारा लेती हैं, और उन्हें अपनी कहानियों में सहजता से मिला देती हैं। लोक परंपराओं पर यह निर्भरता कई उध्देश्यों को पूरा करती है यह स्वदेशी कहानी कहने के तरीकों को संरक्षित करती है, पाठकों के साथ भावनात्मक जुड़ाव को मजबूत करती है और यह सुनिश्चित करती है कि सांस्कृतिक मूल्य पीढियों तक आगे बढ़ते रहें। इस प्रकार उनकी कहानी कहने की तकनीक अतीत और वर्तमान, परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सेतु बन जाती है।

निष्कर्ष : सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियाँ केवल काल्पनिक कहानियों नहीं हैं, बल्कि भारत के सांस्कृतिक लोकाचार का सशक्त प्रतिबिंब हैं। परंपरा को सामाजिक आलोचना, राष्ट्रवाद को व्यक्तिगत संघर्ष और इतिहास को कहानी कहने के साथ जोडने की उनकी क्षमता उन्हें एक चिरस्थायी साहित्यिक हस्ती बनाती है। आरतीय समाज की चुनौतियों और ताकतों को चित्रित करके, वह सुनिश्चित करती हैं कि उनकी रचनाएँ प्रासंगिक बनी रहें, लिंग, संस्कृति और पहचान पर चर्चाओं को प्रेरित करती रहें। हिंदी साहित्य में उनका योगदान सांस्कृतिक चेतना को आकार देने में कहानी कहने की शक्ति का प्रमाण है। प्रगति की वकालत करते हुए पारंपरिक आख्यानों को संरक्षित करके,

चौहान की रचनाएँ ऐतिहासिक स्मृति और समकालीन विमर्श के बीच एक सेतु का काम करती हैं, जिससे उनकी साहित्यिक विरासत भारत की सांस्कृतिक विरासत का एक अमूल्य हिस्सा बन जाती है।

संदर्भ

1. चौहान, एस. के. (1927), झाँसी की रानी (कविता)

2. चौहान, एस. के. (1930), मेरा नया बचपन (लघुकथाएँ)

3. चौहान, एस. के. (1932), बिखरे मोती (लघुकथा संग्रह)

4. शर्मा, आर. (2015), सुभद्रा कुमारी चौहानः एक साहित्यिक और राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य, नई दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट

5. त्रिपाठी, ए. (2018), सुभद्रा कुमारी चौहान की कृतियों में महिलाएँ और राष्ट्रवाद, इंडियन जर्नल ऑफ लिटरेरी स्टडीज, 45(2), 56–72

6. गुप्ता, पी. (2020), हिंदी साहित्य में राष्ट्रवाद (हिंदी साहित्य में राष्ट्रवाद), वाराणसीः विश्वविघ्द्यालय प्रकाशन

7. पटेल, एम. (2021), सुभद्रा कुमारी चौहान की कृतियों में सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक, जर्नल ऑफ इंडियन कल्चर एंड सोसाइटी, 12 (1), 34–49

8. थापर, आर. (2004), भारतीय समाजः अतीत और वर्तमान, नई दिल्लीः पेंगुइन बुक्स

9. चटर्जी, पी. (1993), राष्ट्र और उसके अंशः औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक इतिहास, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस

10. मुखर्जी, एस. (2019), हिंदी साहित्य में महिलाओं की कहानियांरू सुभद्रा कुमारी चौहान और उनके समकालीनों का एक अध्ययन, दक्षिण एशियाई साहित्यिक समीक्षा, 28(3), 112–130

11. डॉ. किशोरी लाल गुप्ता, हिंदी साहित्य का इतिहास

12.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, परिचय, पृष्ठ–9

13. नागेन्द्र एवं हरकृष्ण, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.– 475

14.वह, पृ–26–39

15. गुप्त, मैथिलीशरण, हिंदूमत स्वातंत्रय, पृ.–123

16. दिनकर, रामधारी सिंह, रश्मिरथी–चतुर्थ सर्ग पृ–50

17. भोलानाथ, दैनिकी–सियारामशरण गुप्त, पृ–7

18. अवतार, गुरुकुल–मैथिलीशरणगुप्त पृष्ठ–35

■

प्रेम की परंपरा और मनोहर श्याम जोशी का कथा व कथेतर साहित्य

डॉ. शिखा *

प्रेम का सागर अथाह है, जिसके भीतर मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य–व्यापार समाहित है। प्रेम शब्द अव्याख्येय है, फिर भी समय–समय पर साहित्यकारों द्वारा प्रेम की व्याख्या करने के प्रयास किए जाते रहे हैं। प्रेम भाव बदलते हुए समय के साथ बदलता जा रहा है। प्रेम में व्याप्त कोमलता कठोरता में तब्दील होती जा रही है।प्रेम जिसे समाज और सामाजिक–संबंधों की नींव माना जाता था उसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार हो गई कि" प्रेम दो व्यक्तियों के बीच का नितांत निजी संबंध है और समाज से उसका कोई लेना–देना नहीं।'[1]

प्रेम का फलक अत्यंत विस्तृत है। मनोहर श्याम जोशी भी अपने साहित्य (कहानियों, निबंधों, आलेखों, संस्मरणों, व्यंग्य–संग्रहों, यात्रा–वृत्तान्तों) के माध्यम सेप्रेम भाव को समझाने का प्रयासकिया है।समकालीन समय में प्रेम करना व प्रेम पाना सरल नहीं हैं। ऐसे में मनुष्य के समक्ष ये बड़ा प्रश्न है कि वह प्रेममय जीवन किस प्रकार जिये। जीवन में जब उसे प्रेम मिलता है तो उसे लगता है– 'छह दिन की कैद के बाद जैसे वह एक दिन के लिए पैरोल पर छूटा हो'[2] प्रेम के बिना समाज की आधारभूत संरचना में परिवर्तन करना संभव नहीं है।

बीज शब्द : मानवीय संबंध, भावुकता, आधुनिकता, तकनीकि–क्रांति, नैतिकता, भूमंडलीकरण, सामंतवादी व्यवस्था, भारतीय संस्कृति, वैवाहिक–संस्था, समलैंगिक संबंध, स्त्री –पुरुष संबंध, सामाजिक मानदंड।

मूल आलेख : मानवीय सम्बन्धों में हो रहे निरंतर परिवर्तनों से प्रेम भाव में भी परिवर्तन हुआ है। एक समय था जब प्रेम भावना का विषय था किन्तु अब भावना का स्थान वस्तु ने ले लिया है। वस्तु की तरह प्रेम भी खरीदा व बेचा जाने लगा है। फिर भी मनुष्य संघर्ष करते हुए कोमल तत्त्व प्रेम को बचाए रखना चाहता है क्योंकि प्रेम जीवन का आधार है। मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में –"जब एक तरह से यह तय हो चुका था कि भावुकता का जमाना लद चुका है। प्यार मुहब्बत की रूमानी दास्तानें अतीत की कब्र में दफन हो चुकी है। मन के सत्य के विरुद्ध तन का तथ्य बाजी मार चुका है। मानव संबंधों के सभी कोमल तंतु टूट चुके हैं। वे सभी आईने चटख चुके हैं, जिनमें कभी हम अपना चेहरा देखा करते थे। तभी

***संपर्क** – सहायक आचार्य, दयाल सिंह कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. नं 8860914360

एक हादसा ऐसा घटित हो गया है जिसने निर्णयों के सामने फिर प्रश्नचिह्न लगा दिया है।सभी निष्कर्ष फिर खटाई में पड़ गए हैं। बहुत से तयशुदा मसले फिर बहस–मुवाहिसे के लिए खुल गए हैं।'[3]

आधुनिकता की चकाचौंध ने मनुष्य के भीतर अतल में धँसे हुए प्रेम तत्त्व को नष्ट करने के अनेक उपक्रम किए हैं। काफी हद तक वह उसमें सफल भी हो गई किन्तु फिर भी कुछ ऐसा है जिसने मनुष्यता को बचाकर रखा है। मनोहर श्याम जोशी'बात ये है कि' में लिखते हैं– "दुनिया फिर बुनियादी बातों की तरफ लौटना चाह रही है। बुद्धि के दाँव–पेंच बहुत चल चुके, अब वह दिल की बात सुनना चाहती है। क्योंकि 'इल्म' से शायरी नहीं होती। सभ्यता का चक्र घूमता रहता है। क्रिया– प्रतिक्रिया को जन्म देती है। घूम–फिरकर सभ्यता का चक्र फिर सहज वृत्ति के बिंदु पर लौट आना चाह रहा है। भावुकता इतने वर्षों तक दबाई जाती रही है कि अब वह फिर पूरे वेग से उभर आना चाहती है।'[4]

आधुनिक युग की विभिन्न विधाओं के माध्यम से मनोहर श्याम जोशी ने मनुष्य व समाज के जटिल संबंधों को अभिव्यक्त करते हुए प्रेम के बदलते हुए स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया है। प्रेम के विषय में समाज में जो प्रचलित मानदंड हैं, जोशी जी उन मानदंडों को प्रश्नांकित करते हैं। मनोहर श्याम जोशी अपने साहित्य में पवित्रता, नैतिकता जैसी अवधारणाओं का खंडन करते हुए दिखते हैं। उनके साहित्य में पवित्रता, शुद्धता, और नैतिकता को लागू करने का शास्त्र ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। वे जीवन को जैसाहै उसी रूप में देखने व दिखाने के हिमायती हैं। वे अपने साहित्य में जो वास्तविक है, स्वाभाविक है, उसको बिना किसी लाग–लपेट के सहज और स्वभाविक रूप से आने देते हैं।

बढ़ती तकनीक के कारण मानवीय संबंधों में हो रहे परिवर्तन को मनोहर श्याम जोशी की लेखनी पैना प्रहार करती है। मनुष्य का विज्ञान की ओर उन्मुख और निरंतर बढ़ती तकनीक का अंग बनने के पीछे उद्देश्य यह था कि वह अपने जीवन को सरल सुलभ और आरामदायक बनाना चाहता था। तकनीक के बढ़ने से जहाँ एक ओर मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया वहीं दूसरी ओर वह मानवीय संबंधों को जटिल बनाता गया। बढ़ती तकनीक के कारण मनुष्य का स्थान मशीनों ने ले लिया। मनुष्य मशीनों पर निर्भर रहने लगा। तकनीक के विकास से पूर्व मानवीय संबंधों में जो प्रेम, विश्वास, अपनापन, त्याग, समर्पण था वह धीरे–धीरे समाप्त हो गया। अब मनुष्य मनुष्य से अधिक समय मशीनों के साथ व्यतीत करने लगा परिणामस्वरूप मानवीय संबंध बिखरने लगे। संबंधों में बिखराव ने ही मनुष्य को तकनीक का दास बना दिया। आज हम देखते हैं कि एक घर में रहने वाले सभी सदस्य वास्तविक दुनिया से ज्यादा आभासी दुनिया में जीना और बातचीत करना अधिक पसंद करते हैं। बढ़ती हुई तकनीक के दुष्प्रभावों की ओर इशारा करते हुए मनोहर श्याम जोशी 'बात ये है कि' में लिखते हैं– "इस बार की संक्रांति और भी अधिक पेचीदा है क्योंकि उद्योग ने मानवीय संबंधों से भले ही छेड़छाड़ की है मानव को बक्श दिया था यह नया युग मनुष्य को भी छोड़ने वाला नहीं है। विज्ञान उन्नति के चरम शिखर पर पहुंच गया है और ऐसे शोध तथा

आविष्कार हो रहे हैं जो मनुष्यता की नहीं मनुष्य की ही परिभाषा बदल सकते हैं. ..अब ऐसी संभावनाएं पैदा हो चुकी हैं कि मनुष्य को मनवांछित रूप में ढाला जा सकें और उसमें परिवर्तन किए जा सकें।'[5]

प्रेम स्त्री–पुरुष संबंधों के बीच की कड़ी है इस कड़ी को तोड़ने में भूमंडलीकरण ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। भूमंडलीकरण के दौर में मानवीय संबंधों को पूँजी के संदर्भ में देखा जा रहा है। पूँजी के आधार पर ही यह तय किया जा रहा है कि मनुष्य किसे कहा जाए? रामदरश मिश्र अपनी एक कविता में लिखते हैं– 'बाजार को निकले हैं लोग बेच के घर को, क्या हो गया है जाने मेरे शहर को'[6] 'गुड़िया' कहानी में भी इसे देखा जा सकता है। पूँजीवादी सभ्यता से आक्रांत होने के कारण लाल सैप की सारी कोमलता नष्ट हो चुकी है। वे मधुली के साथ अपने कोमल सम्बन्धों को भूल चुके हैं। मधुली की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और प्रेम पूँजी के समक्ष नगण्य सी मालूम जान पड़ती हैं। मधुली द्वारा लाल सैप से गुड़िया मांगने पर लाल सैप द्वारा उसे तिरस्कृत किया जाता है, उसे डाँटा, फटकारा जाता है– "डैम, हम गुड़िया–बुड़िया कुछ नहीं जानता। लाल सैप ने पब्लिक स्कूल में पैसे खर्च कर सीखी हुई अकड़ से कहा।'[7] भूमंडलीकरण के दौर की यह विडंबनाजनक स्थिति है जिसने मनुष्यता को शर्मसार कर दिया है। आज संबंध लेन–देन के कॉन्ट्रैक्ट के रूप में बनाए जा रहे हैं और कांट्रैक्ट खत्म होते ही संबंधों को स्वाहा किया जा रहा है। मनुष्य की संवेदनाओं का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। आज हम जिस दौर में हैं वहाँ मनुष्य 'नये' का आकांक्षी है। वह वस्तुओं, मशीनों का उपभोग करने के पश्चात् दूसरी वस्तु की कामना कर रहा है। 'नये' की कामना के समक्ष मनुष्य के संबंध, भाव, मूल्य यहाँ तक की 'प्रेम' भी पुराना पड़ता जा रहा है। आज का मनुष्य मात्र उपभोक्ता बन कर रह गया है। वह चाहता है कि "हर क्षेत्र में मॉडल और फैशन बदले। रुचि के स्तर पर पीढ़ियों का अंतराल जल्दी–जल्दी प्रकट हो। कोई भी चीज इसलिए न बनाई जाए कि वह पीढ़ी– दर–पीढ़ी चलती रहे। कोई भी फैशन ऐसा न हो जो एकसाल से ज्यादा टिका रहे।'[8]

हमारे समाज में स्त्री–पुरुष के संबंध को लेकर तरह–तरह की मान्यताएं हैं। स्त्री–पुरुष के लिए अलग–अलग नियम व कानून हैं। मनोहर श्याम जोशी प्रश्न करते हैं कि जेंडर के आधार पर स्त्री–पुरुष में इतनी असमानता क्यों? नैतिकता के मायने स्त्री–पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न क्यों? कहने के लिए तो हम आधुनिक हैं, हमने फ्रेंच क्रांति से समानता, एकता, बंधुता के गुण लिए हैं फिर नैतिकता के आधार पर इतनी असमानताएँ और विषमताएं क्यों?

मनोहर श्याम जोशी का मानना है प्रेम करना एक सहज व मानवीय प्रक्रिया है। किंतु प्रेम को लेकर हमारे समाज में खुलापन नहीं है। सामंती संरचना से लेकर पूँजीवादी संरचना तक प्रेम और काम की नैतिकता का जो अर्थ स्त्री के लिए होता है वह पुरुष के लिए नहीं। एक ही घर, कुनबे, समाज में दोनों के लिए अलग–अलग धरती और आकाश होते हैं। मनोहर श्याम जोशी स्त्री–पुरुष के लिए नैतिकता के दोहरे मानदंडों का विरोध करते हैं और एक ऐसा मार्ग ढूँढने का प्रयास

करते हैं जहाँ दोनों के लिए समान मानदंड हों एवं दोनों स्वतंत्रता–पूर्वक अपने निर्णय स्वयं लेने में सक्षम हों। 'आज का समाज' में वे लिखते हैं– "नैतिकता और सभ्यता वहीं संभव होती है जहाँ आप दूसरे को उपस्थित मानते हैं, उसका भी ख्याल रखते हैं लेकिन जब आपको दूसरा नजर आ ही न रहा हो तब अनैतिकता और बदतमीजी के सिवा कुछ हो नहीं सकता।'[9]

मानवीय संबंधों का आधार प्रेम है। किंतु बदलते समाज ने प्रेमभाव को इस तरह ग्रस लिया है कि मानवीय संबंधों की नींव ही चरमरा गई है। अब कोई भी संबंध स्थायित्व लिए हुए नहीं है। आधुनिक मनुष्य को संबंधों में निरंतर नयापन चाहिए। नयेपन की इस चाहत ने मनुष्य को मनुष्य, परिवार, समाज से अलग कर दिया है। मनोहर श्याम जोशी मनुष्य को उंगली पकड़ाकर पुनः उसे प्रेम का आभास कराने के लिए उस भारत में लाते हैं जो आधुनिकता से पूर्व का भारत था। जहाँ मानवीय प्रेम जीवित था। मानवीय सम्बन्धों में अंतरंगता थी। '21वीं सदी' में मनोहर श्याम जोशी लिखते हैं– "आज भी भारत जैसे पिछड़े देश के गांवों और कस्बों में लोग बाग एक–दूसरे से इतनी अधिक भौगोलिक निकटता और सामुदायिक अंतरंगता में रहते हैं कि किसी से भी कोई बात छुपी नहीं रह पाती। वहाँ लोग जिसे अपना समझते हैं उसे सीधे रसोईया शयन कक्ष में ही बुला लेते हैं।"[10] किंतु आधुनिकता के प्रवेश करते ही मानवीय सम्बन्धों में व्याप्त अपनापन, सम्बन्धों की गर्माहट, मनुष्य–मनुष्य के बीच प्रेम, अंतरंगता जैसे काफूर हो गई। चारों ओर स्वतन्त्रता और निजता का फिकरा चलने लगा और यह समझाया जाने लगा–"सभ्य नागर विक्टोरियायी लोग अपनी निजी बातों की सार्वजनिक चर्चा करना अथवा किसी से उसकी निजी बातों की सार्वजनिक चर्चा करना अथवा किसी से उसकी निजी बातें पूछना गँवारपन की निशानी मानते थे।"[11]

सामंतवादी व्यवस्था ऐसी व्यवस्था है जिसने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को अत्यधिक जटिल बना दिया है। यह व्यवस्था सदा से ही प्रेम के विरोध में रही है। प्रेम के विरोध के लिए सामंतवादी व्यवस्था ने ऐसी रूढ़ियों, परंपराओं, बंधनों, तथाकथित नैतिकता का सृजन किया है जिसमें फँसकर मनुष्य यह भूल गया है कि उसकी भी कुछ इच्छाएँ, आकांक्षाएँ हैं, कुछ स्वप्न हैं, वह भी अपना जीवन अपने अनुरूप जीना चाहता है। "रूमानी प्रेम को जन–जन तक पहुँचाने की जो मुहिम सत्रहवीं सदी में यूरोप में शुरू हुई उसने प्रभु पर तन–मन–धन वारने की पुरानी अवधारणा को ही स्त्री–पुरुष संबंधों में लगभग ज्यों का त्यों उतार दिया था। समाज पुरुष सत्तात्मक था लिहाजा रूमानी प्रेम में प्रभु की भूमिका पुरुष को ही मिल सकती थी।"[12] सामंतवादी व्यवस्था ने अपना शिकंजा स्त्री–पुरुष दोनों पर कसा हुआ है। ये दोनों इस शिकंजे में फँसकर फड़फड़ा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में समावेशन की क्षमता है। यह मिली–जुली संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में प्रेम रचा–बसा हुआ है। प्रेम की यही भाव भीनी सुगंध भारतीय संस्कृति को आकर्षण का केंद्र बनाए रखती है। भारतीय संस्कृति की एकता, अखंडता, सहिष्णुता, भाईचारा, साधन–संपन्नता के कारण ही विश्व में

भारतीय संस्कृति की छाप है। भारतीय संस्कृति में अपनापन, प्रेम, सद्भावना जैसे मूल्य हैं जो किसी भी व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य हैं।

स्वतंत्रता के बाद और तकनीकी क्रांति के बाद भारतीय संस्कृति को जिस तरह से किनारे कर दिया गया यह मनोहर श्याम जोशी के लिए चिंता का विषय था। पश्चिमी संस्कृति का निरंतर अनुकरण करने से रिश्तों की जो गर्माहट थी वह खत्म हो चुकी है। मनुष्य अकेलेपन,अजनबीपन का शिकार होने लगा है। भारतीय संस्कृति में जिस बिरादरी का महत्त्व था वह निरंतर क्षीण होता जा रहा है। प्रत्येक मनुष्य निजी स्वतंत्रता चाहता है।इस निजत्व ने ही मनुष्य को अनेक मानसिक समस्याओं से ग्रस्त रोगी बना दिया है। मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में– "हर इंसान का अपना परिचित संगीत,अपना परिचित पहनावा अपना परिचित संसार देखते ही देखते केवल यादों का विषय बनता जा रहा है।"[13]

मनोहर श्याम जोशी एक ऐसे रचनाकार हैं जो सेक्स पर खुलकर बात करते हैं। उनका मानना है कि यह जीवन का अभिन्न अंग है तो इस पर खुलकर बात क्यों न की जाए। मनोहर श्याम जोशी कहते हैं– "प्रकृति का नियम है सृजन करना ! यह स्वाभाविक है – बीज से पेड़! पेड़ से फल! फल से बीज!"[14] वे कहते हैं सेक्स को हमारे समाज में दबा– छुपा कर रखा जाता है यही कारण है कि लोग मानसिक रूप से बीमार होते जा रहे हैं। अतः लोगों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि उन अवरोधक तत्त्वों को हटाया जाये जिनके परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन जटिल हो गया है। सेक्स के प्रति खुला दृष्टिकोण ही मनोहर श्याम जोशी को समलैंगिक संबंधों के प्रति नवीन दृष्टिकोण देता है। विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण वे ये भली–भाँति जानते हैं कि हारमोन ही मनुष्य का सेक्स निर्धारण करते हैं। आज के दौर में समलैंगिक संबंध बनाना, सेक्स परिवर्तन करना साधारण बात हो चुकी है। यह किसी भी मनुष्य का निजी मामला है और समाज को इसका आदर करना चाहिए ।

समाज में प्रेम के लिए स्थान नहीं है और न ही प्रेम करने की स्वतन्त्रता। स्त्री– पुरुष के प्रेम को स्वीकृति विवाह के बंधन में बंधने के बाद ही दी जाती है। भले ही विवाह के पश्चात् दोनों में प्रेम स्थापित हो या नहीं। समाज में वैवाहिक संस्था इतनी मजबूत है कि उसे तोड़ना सरल नहीं है। आधुनिक मनुष्य प्रेम और विवाह को भिन्न समझने लगा है। परिणाम–स्वरूप विवाह जैसे परंपरागत बंधन ढीले पड़कर टूटते जा रहे हैं। मानवीय संबंधों में भी निरंतर परिवर्तन होता जा रहा है।

आदिकाल से ही स्त्री व पुरुष ने परस्पर आकर्षण का अनुभव किया है। यह आकर्षण स्वाभाविक है। सभ्य समाजों ने परस्पर इस आकर्षण व स्त्री–पुरुष संबंधों को विवाह के रूप में स्थायित्व दिया है। वैवाहिक संस्था को निर्माण परिवार व समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए किया गया। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ–साथ वैवाहिक संस्था रूढ़ होती चली गई। विवाह का उद्देश्य केवल संतानोत्पत्ति तक ही सीमित रह गया। स्त्री–पुरुष संबंधों में प्रेम का अर्थ संतानोत्पत्ति तक सीमित हो गया। विवाह एक ऐसा बंधन बन गया जिसमें बंधकर स्त्री और पुरुष पंचर हुए टायर के समान घिसट–घिसटकर अपने गंतव्य तक

पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं। वे भीतर से छटपटा रहे हैं। उनकी आकांक्षाएँ, इच्छाएँ मरती जा रही हैं और उनके स्वप्न निरंतर अपना दम तोड़ते जा रहे है।

निरंतर परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों ने व्यक्ति के भीतर के प्रेम तत्त्व को वासना एवं स्वार्थ में बदल दिया है। प्रेम की शुद्धता, कोमलता को समाप्त कर दिया है। अब मनुष्य प्रेम–संबंध तभी तक बनाए रखता है। जब तक उसका व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध न हो जाए। प्रेम के मानदंड आधुनिक समय में धूमिल पड़ चुके हैं। प्रेम सम्बन्धों में प्रेम का स्थान पूँजी ने ले लिया। पूँजी के अभाव में प्रेम रूपी पौधा पनप ही नहीं पाता। यदि पनप भी जाता है तो कुछ समय पश्चात् अपना दम तोड़ देता है।

निष्कर्ष : इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रेम के निरंतर बदलते हुए स्वरूप को देखकर मनोहर श्याम जोशी का मीडिया मैन अपनी विलक्षण दृष्टि से देख रहा था। निरंतर प्रेम का बदलता हुआ स्वरूप और मनुष्य की आकांक्षाएं मनोहर श्याम जोशी के रचनाकार मन में एक टीस छोड़ देती है यही कारण है कि वे अलग कारण है कि वे अलग–अलग कोणों से मनुष्य जीवन औरउसके संबंधों को जाँचने, परखने और समझने की कोशिश अपने कथा एवं कथेतर साहित्य (कहानियां, आलेख, निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रावृतांत, संस्मरण) में करते हैं। अपनी रचना में एक प्रति संसार रचते चलते हैं। यह प्रति संसार प्रेम की बदलते हुए स्वरूप की अभिव्यक्ति है।

संदर्भ ग्रंथ–

1 रमेश उपाध्याय – आज के समय में प्रेम, पृ. 25
2 मनोहर श्याम जोशी – मनोहर श्याम जोशी की संपूर्ण कहानियाँ, पृ. 102
3 मनोहर श्याम जोशी – बात ये है कि, पृ. 96
4 मनोहर श्याम जोशी – बात ये है कि, पृ. 99
5 मनोहर श्याम जोशी – बात ये है कि, पृ. 141
6 रामदरश मिश्र – 51 गजलें, डायमंड पॉकेट बुक्स, 2010, पृ. 18
7 मनोहर श्याम जोशी – मनोहर श्याम जोशी की संपूर्ण कहानियाँ, पृ. 17
8 मनोहर श्याम जोशी – 21वीं सदी, पृ. 23
9 मनोहर श्याम जोशी – आज का समाज, पृ. 94
10 मनोहर श्याम जोशी – 21वीं सदी, पृ. 11
11 मनोहर श्याम जोशी – 21वीं सदी, पृ. 11
12 मनोहर श्याम जोशी – आज का समाज, पृ. 313
13 वही, पृ. 23
14 मनोहर श्याम जोशी – मनोहर श्याम जोशी की संपूर्ण कहानियाँ, पृ. 88

■

कबीर के कल्याणकारी राज्य की संकल्पना

डॉ. शैलेन्द्र सिंह *

संत कबीर भारतीय संत परंपरा के अग्रगामी संतों में माने जाते हैं, जिन्होंने न केवल अध्यात्म का प्रचार किया बल्कि सामाजिक सुधार और मानव कल्याण की वाणी भी दी। कबीर की वाणी में समाज के हर वर्ग, विशेष रूप से शोषित और वंचित समुदायों के प्रति संवेदना दिखाई देती है। उनके चिंतन में एक ऐसे आदर्श राज्य की संकल्पना निहित है, जिसमें जाति–पांति का भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक शोषण और नैतिक पतन का कोई स्थान नहीं है। यह राज्य सामाजिक समता, धार्मिक सहिष्णुता, श्रम के सम्मान और नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। यह शोध–पत्र कबीर के विचारों के माध्यम से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करता है तथा वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है।

बीज शब्द : कबीर/कल्याणकारी राज्य/सामाजिक समता/धर्मनिरपेक्षता/श्रम का सम्मान/जातिवाद विरोध/नैतिकता/संत परंपरा/सामाजिक न्याय/भक्तिकाल

प्रस्तावना : भारत की संत परंपरा ने जहाँ एक ओर अध्यात्म और भक्ति का मार्ग दिखाया, वहीं दूसरी ओर सामाजिक चेतना और न्याय के बीज भी बोए। संत कबीर ऐसी ही चेतना के वाहक थे, जिन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज की कुरीतियों, धार्मिक पाखंड, जातिगत भेदभाव और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। उनकी वाणी किसी एक संप्रदाय या मत तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें संपूर्ण मानवता के कल्याण का भाव निहित था।

कबीर का चिंतन केवल धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक भी है। उनकी रचनाओं में जिस राज्य की कल्पना की गई है, वह एक कल्याणकारी राज्य है– जहाँ हर व्यक्ति को समान अवसर, सम्मान और स्वतंत्रता प्राप्त होती है। इस राज्य में शासन का उद्देश्य केवल सत्ता नहीं, बल्कि प्रजा का कल्याण है।

वर्तमान सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों में जब जातिवाद, साम्प्रदायिकता, आर्थिक असमानता और नैतिक पतन जैसी समस्याएँ पुनः सिर उठा रही हैं, तब कबीर के कल्याणकारी राज्य की संकल्पना एक प्रासंगिक वैकल्पिक दृष्टिकोण

***संपर्क** – हाउस नं.–223, गली नं.–10, पश्चिम विहार कालोनी, सलेमपुर पौराणिक, पो. – काकोरी, लखनऊ–226101, मो.–7392855998

प्रस्तुत करती है।

1. समता पर आधारित राज्य

कबीर ने जाति–पांति, ऊँच–नीच, धर्म और वर्ग के भेदभाव का तीव्र विरोध किया। उनके लिए सभी मनुष्य एक समान हैं। उनका कल्याणकारी राज्य ऐसा होता हैरू

1.1 जहाँ जातिगत भेदभाव नहीं होता,

1.2 कोई भी व्यक्ति छुआछूत और सामाजिक अपमान का शिकार नहीं होता,

1.3 सभी को समान अवसर मिलते हैं।

> संत कबीर भारतीय संत परंपरा के अग्रगामी संतों में माने जाते हैं, जिन्होंने न केवल अध्यात्म का प्रचार किया बल्कि सामाजिक सुधार और मानव कल्याण की वाणी भी दी। कबीर की वाणी में समाज के हर वर्ग, विशेष रूप से शोषित और वंचित समुदायों के प्रति संवेदना दिखाई देती है। उनके चिंतन में एक ऐसे आदर्श राज्य की संकल्पना निहित है, जिसमें जाति–पांति का भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक शोषण और नैतिक पतन का कोई स्थान नहीं है। यह राज्य सामाजिक समता, धार्मिक सहिष्णुता, श्रम के सम्मान और नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। यह शोध–पत्र कबीर के विचारों के माध्यम से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करता है तथा वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है।

उदाहरणः–

'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान,
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।'

2. धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिक सद्भाव

कबीर हिंदू–मुसलमान दोनों धर्मों की रूढ़ियों का विरोध करते हैं। वे ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं–

2.1 जहाँ धर्म के नाम पर भेदभाव न हो,

2.2 हर व्यक्ति को आस्था की स्वतंत्रता हो।

उदाहरण–

'हंदू कहे मोहि राम पियारा, तुरक कहे रहमाना।
आपस में दोऊ लड़ै मरै, मरम न कोऊ जाना।'

3. न्याय पर आधारित शासन

3.1 कबीर का कल्याणकारी राज्य न्यायसंगत होता है,

3.2 जहाँ शासन जनता की भलाई के लिए होता है,

3.3 शोषण और अन्याय का अंत होता है।

4. अहंकार रहित नेतृत्व

कबीर अहंकार को सबसे बड़ा दोष मानते हैं। उनका आदर्श शासक–

विनम्र, दयालु और सेवाभावी होता है,

प्रजा के दुःख–दर्द को समझता है।

5. श्रम का सम्मान

कबीर श्रम की महत्ता को प्रमुखता देते हैं। वे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं–

जहाँ श्रमिकों का सम्मान हो,

मजदूर, जुलाहा, कुम्हार आदि को समाज में प्रतिष्ठा मिले।

उदाहरण–

'करत–करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।'

6. नैतिकता और आत्मज्ञान का महत्व

कबीर के राज्य में आध्यात्मिकता और नैतिकता की बुनियाद पर–

ईमानदारी, सच्चाई, संयम और करुणा का बोलबाला होता है,

व्यक्ति का आत्म–ज्ञान ही सामाजिक जागृति का स्रोत बनता है।

शोध उद्देश्य :

इस शोध का मुख्य उद्देश्य संत कबीर की वाणी और विचारों के माध्यम से उनके द्वारा कल्पित कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को समझना और उसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना है। विशेषतः, निम्नलिखित उप–उद्देश्यों पर केंद्रित किया गया हैरू

1. कबीर के सामाजिक और धार्मिक विचारों का विवेचन करना।
2. कबीर की वाणी में राज्य की नैतिक और आध्यात्मिक अवधारणाओं को खोजना।
3. कबीर के विचारों के आलोक में कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताओं की पहचान करना।
4. कबीर के आदर्श राज्य की आधुनिक लोकतांत्रिक और संवैधानिक व्यवस्थाओं से तुलना करना।
5. वर्तमान सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भों में कबीर की राज्य संकल्पना की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना।

शोध पद्धति

इस शोध में गुणात्मक शोध पद्धति को अपनाया गया है।

द्वितीयक स्रोतों का उपयोग–

शोध में विद्वानों द्वारा रचित पुस्तकों, शोध–पत्रों, और समकालीन लेखों को संदर्भ रूप में प्रयोग किया गया है।

समीक्षात्मक अध्ययन

कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है। उनके विचारों का संक्षिप्त समीक्षात्मक विश्लेषण इस प्रकार है–

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ष्कबीरष् नामक कृति में कबीर की वाणी में अन्तर्निहित सामाजिक क्रांति की व्याख्या की है। वे कबीर को सामाजिक न्याय और मानवीय मूल्यों के पक्षधर मानते हैं।

लिंडा हेस (Linda Hess) ने अपनी पुस्तक The Bijak of Kabir में कबीर की वाणी की बहुस्तरीयता और सामाजिक प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला है।

डॉ. सुरेश कुमार ने भारतीय समाज में संत परंपरा का योगदान में कबीर की भूमिका को सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक सशक्त आवाज बताया है।

डॉ. अजय कुमार शर्मा की पुस्तक कबीर और सामाजिक न्याय में कबीर को आधुनिक सामाजिक क्रांति के मूल स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कुछ आलोचकों ने यह भी माना है कि कबीर का कल्याणकारी राज्य कोई संस्थागत राज्य नहीं बल्कि नैतिक–आध्यात्मिक समाज की अवधारणा है– जो हर व्यक्ति के भीतर से शुरू होती है।

इन समीक्षाओं से स्पष्ट होता है कि कबीर का दृष्टिकोण केवल आध्यात्मिक नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक और राजनीतिक सरोकारों से भी जुड़ा हुआ है। उनका आदर्श समाज एक ऐसा तानाबाना बुनता है जिसमें शासन, धर्म और समाज तीनों का उद्देश्य मनुष्य का कल्याण हो।

मुख्य विवेचन

कबीर का चिंतन उस युग की उपज है जब समाज धार्मिक पाखंड, जातिगत विषमता, और शोषण की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। कबीर की दृष्टि इस सामाजिक ढांचे के विरुद्ध एक प्रतिरोध की चेतना उत्पन्न करती है और एक कल्याणकारी समाज–राज्य की संकल्पना को जन्म देती है। इस अनुभाग में कबीर की कल्पित राज्य व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की जा रही हैरू

(i) जातिगत असमानता के विरुद्ध संघर्ष

कबीर का राज्य जाति–धर्म के विभाजन को अस्वीकार करता है। उनका मानना है कि मनुष्य का मूल्य उसके कर्म और ज्ञान से निर्धारित होता है, न कि जाति या जन्म से।

यह विचार एक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें जन्माधारित विशेषाधिकार समाप्त हों।

(ii) धर्मनिरपेक्षता और सहिष्णुता

कबीर की वाणी हिंदू–मुस्लिम दोनों धार्मिक पाखंडों की आलोचना करती है। वे ईश्वर को निराकार और सर्वव्यापी मानते हैं।

दोहा–

'हरि का सुमिरन सब करे, हरि सब में व्यापक।
जो हिंदू, जो तुरक है, भेद न करहि आपक।।'

उनका कल्याणकारी राज्य धर्म की निजी स्वतंत्रता का सम्मान करता है, किंतु धर्म के नाम पर सामाजिक विभाजन का विरोध करता है।

(iii) श्रम एवं श्रमिक की प्रतिष्ठा

कबीर स्वयं एक जुलाहा थे और उन्होंने कर्मशीलता को जीवन का आधार माना। उन्होंने कभी भी वैभव या विलासिता को महत्व नहीं दिया।

उक्ति–

'हाथ करम, मुख राम की सुमिरन दृ यही जीवन का सार है।'

इस आधार पर कबीर का आदर्श राज्य श्रमिकों को उच्च सामाजिक सम्मान और सुरक्षा प्रदान करता है।

(iv) नैतिकता पर आधारित शासन

कबीर के राज्य में नीतियों का संचालन नैतिक मूल्यों से होता है न कि केवल विधिक संरचनाओं से। वह राजा या नेता वही है जो ईमानदारी, त्याग और करुणा से समाज की सेवा करे।

वाणी–

'साईं इतना दीजिए, जा मे कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाए।।'

यह दृष्टिकोण राज्य की जिम्मेदारी को न्यूनतम आवश्यकता और न्याय वितरण से जोड़ता है।

(v) नारी सम्मान और समता

कबीर ने यद्यपि अधिक मात्रा में स्त्री विषयक वाणी नहीं दी, परंतु जो कुछ उपलब्ध है, उसमें स्त्री को एक स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और आदरणीय इकाई के रूप में देखा गया है।

दोहा–

'नारी नर सम जानिए, यही ज्ञान का सार।
अंतर नाहीं कछु, जीव एक करतार।।'

इसका स्पष्ट अर्थ है कि कबीर के राज्य में लिंग आधारित भेदभाव अस्वीकार्य है।

(vi) आध्यात्मिकता और आत्मबोध का महत्व

कबीर के राज्य की सबसे गहन विशेषता यह है कि वह आध्यात्मिक जागृति से प्रेरित होता है। उनके राज्य का उद्देश्य केवल भौतिक विकास नहीं, बल्कि आत्मिक और नैतिक उत्थान है।

कबीर का राज्य बनाम आधुनिक कल्याणकारी राज्य

	तत्व	**कबीर का राज्य**	**आधुनिक कल्याणकारी राज्य**
1.	आधार	आध्यात्मिक नैतिकता, समता	संविधानिक व्यवस्था, लोकतंत्र
2.	न्याय	नैतिक और आध्यात्मिक न्याय	विधिक और न्यायालयीय न्याय

3.	नारी की स्थिति	सम्मान और समता कानून द्वारा संरक्षित समानता
4.	श्रमिक अधिकार	श्रम की महिमा श्रम कानून और नीति

हालाँकि कबीर का कल्याणकारी राज्य दार्शनिक और आध्यात्मिक स्तर पर निर्मित है, लेकिन उसकी मूल भावना आधुनिक कल्याणकारी राज्य की नींव रखती है।

निष्कर्ष:

कबीर का कल्याणकारी राज्य एक विशुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था है। यह राज्य जातिगत भेदभाव, धार्मिक पाखंड, सामाजिक विषमता और शोषण से मुक्त है। वहाँ व्यक्ति की पहचान उसके कर्म, ज्ञान और नैतिकता से होती है।

कबीर के आदर्शों को आज के संदर्भ में देखें तो स्पष्ट होता है कि वे सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता, समानता, और श्रम की प्रतिष्ठा जैसे उन मूल्यों की बात करते हैं जो आधुनिक लोकतांत्रिक और संवैधानिक राज्य की आत्मा हैं।

आज के संदर्भ में कबीर के विचार अधिक प्रासंगिक हो गए हैं, क्योंकि वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और सांप्रदायिकता की चुनौतियों से जूझते समाज को एक ऐसी वैचारिक ऊर्जा की आवश्यकता है जो उसे मानवीय मूल्यों की ओर पुनः मोड़े। कबीर का कल्याणकारी राज्य ऐसी ही दृष्टि प्रदान करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography/References)

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद। कबीर, राजकमल प्रकाशन, 2001.
2. शर्मा, अजय कुमार। कबीर और सामाजिक न्याय, भारतीय साहित्य परिषद, 2014.
3. हेस, लिंडा। The Bijak of Kabir] OÛford University Press, 2002-
4. कुमार, सुरेश। भारतीय समाज में संत परंपरा का योगदान, प्रभात प्रकाशन, 2015.
5. श्रीवास्तव, रामस्वरूप। भक्तिकालीन संत साहित्य और समाज, साहित्य भवन, 2010.
6. Tripathi] Anil- Sociology of Bhakti Movement] Vani Prakashan] 2020-
7. Sharma, Gopal- Sant Kabir: Samajik Chetna ke Prerak, Ganga Publications, 2016-
8. बीजक, संपादक– श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

■

हिन्दी काव्य में आधुनिकता

शिला कुमारी *

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरंभ सन् 1850 से माना जाता है। अनेक हिन्दी साहित्यकारों ने आधुनिक काल की शुरुआत इसी वर्ष से माना है। इसे नवजागरण काल की भी संज्ञा देते हैं। आधुनिक काल के लेखकों, कवियों, नाटककारों द्वारा जो रचनाएँ की जा रही थीं, वो रीतिकालीन दरबारी कवियों से भिन्न थीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि मध्यकाल और आधुनिक काल में अंतर हो गया था। यह अंतर संसाधन, परिवेश तथा मानसिक चेतना के स्तर पर हुआ था। यातायात के साधनों के विकास से वैचारिक आदान–प्रदान संभव हो पाया। आवश्यक वस्तुओं के आयात–निर्यात से किसानों से लेकर पूंजीपति वर्ग तक को आर्थिक लाभ हुआ। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के जनक के रूप में भारतेंदु हरिश्चंद्र को जाना जाता है। भारतेंदु जी रीतिकालीन दरबारी परंपरा को तोड़ते हुए राष्ट्रीय चेतना से संबंधित कविताएँ, निबंध, नाटक आदि लिखते हैं। उस समय भारत अंग्रेजों का गुलाम था। भारत की जनता अंग्रेजों की कुशासन व्यवस्था और अत्याचार से त्रस्त थी। भारतेंदु जी ने इन सबके विरुद्ध जनता को जागृत करने का काम किया। एक नयी सोच के साथ समाज को जागरूक करने का प्रयास किया। अंधेर नगरी (1881), भारत दुर्दशा (1880) आदि रचनाएँ सरल भाषा और सरल तरीके से आम जनता को जागरूक करने का सफल प्रयास कहा जा सकता है। आधुनिकता का संबंध सोच से है। यह मनुष्य के विवेक को जागृत करता है। भारतेन्दु जी के द्वारा परतंत्रता से मुक्ति के लिए स्वाधीनता के भाव आम आदमी तक पहुँचाना ही आधुनिकता थी। इनके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और निराला आदि अपनी–अपनी कृतियों के माध्यम से आम लोगों तक समाज की स्थिति से अवगत कर स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा दे रहे थे। यह राजनितिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति से संबंधित था। मैथिलीशरण गुप्त की कविता है –

'हम क्या थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी

*संपर्क – शोधार्थी, नेट, जे. आर. एफ., बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद, झारखंड, मोबाइल नम्बर– 7992289847, ईमेल– Vikramshilasingh@gmail.com

आओ सब मिलकर विचारें ये समस्या सभी।'[1]

आम जनता में हताशा–निराशा व्याप्त थी जिसके कारण मूल्य विघटित हो रहे थे। मूल्य विघटन के प्रति चिंतित होते हुए जनमानस को आत्म–साक्षात्कार या भारतीय संस्कृति से साक्षात्कार के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इस तरह मैं का पेट और मैं का देश आजादी के बाद एक समान हो गए हैं और इस समानता के चित्रण में आधुनिकता का बोध है। इसे कविता में इतना विस्तार दिया गया है कि यह न केवल जन–जीवन को दबोच देता है, आधुनिकता के घने बोध को पतला कर देता है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य को सबसे 'ज्यादा प्रभावित आधुनिकता ने ही किया है। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता बोध का प्रतिफलन कई रूपों में हुआ। कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों इत्यादि में खंडित व्यक्तित्व, अजनबीयत, व्यक्ति–स्वातंत्र्य, उन्मुक्त सेक्स, तनाव, कुंठा, धन वैभव का आकर्षण, पारिवारिक विघटन, टूटते मानवीय मूल्यों को लेकर बहुत कुछ लिखा गया। जिनको हम निम्न बिन्दुओं में बाँट कर समझ सकते हैं।

पारिवारिक विघटन–आधुनिक कविता में मानव जीवन के मूल्य विघटन की चर्चा भारतेन्दु युग से ही देखने को मिलती है। इसी युग में हमें मूल्यों में टकराहट की स्थिति देखने को मिलती है। यह काल मूल्य विघटन का काल कहा जा सकता है। इस युग का परिवार भी हाशिये की ओर अग्रसर था। पारिवारिक जीवन में विषमताएँ व्यापत थीं और मूल्य संक्रमण का आरंभ हो गया था। बाल विवाह और अनमेल विवाह से प्रत्येक परिवार जूझ रहा था। यहाँ के लोगों का आर्थिक शोषण बड़े स्तर पर हो रहा था। हिन्दी साहित्य में पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन के दर्द को भी उद्घाटित किया गया है। मुख्य रूप से प्रयोगवाद और नयी कविता के कवियों ने समाज एवं परिवार में बढ़ती समस्याओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। उनके वैचारिक मतभेद आज एकल परिवार के रूप में रहने के लिए मजबूर करता है। वर्तमान समय में समाज को धर्म के ठेकेदारों ने मनुष्य–मनुष्य के बीच गहरी खाई बना दी है। आपसी वैमनस्य के कारण समाज में शांति व्याप्त नहीं है। मनुष्य आज अनेक प्रकार की विकृत मानसिकता से ग्रस्त है जिसके कारण वह अनेक तनाव से गुजरता है और परिवार का विघटन होता है। परिवार टूटने का दर्द मनुष्य को होता है। उस दर्द को राजेश जोशी बयां करते हुए लिखते हैं–

'संयुक्त परिवार टूटन का दृश्य था
बरसों से एक जगह ठहरी हुई
संरचनाएँ सचमुच टूट रहीं थीं।
परिवार के टूटने और एकल परिवार के
आकार लेने के बारे में,
एक लम्बी बहस छिड़ी हुई थी पूरे समाज में

हर नया परिवर्तन नई समस्याओं को भी पैदा करता है।
एकल परिवार की भी बहुत सारी खूबियाँ थीं
पर उसकी समस्याएँ भी कम न थीं।'[2]

धन वैभव का आर्कषण–औद्योगिक क्रांति की ओर उन्मुख भारत अब सामंत व्यवस्था एवं जमींदारों के चंगुल से निकल कर पूंजीपति व्यवस्था की ओर बढ़ता है। जिसका सबसे अधिक प्रभाव मध्य वर्ग पर पड़ा। उट्टच वर्ग के प्रभाव में आकर अब आम व्यक्ति भी अब सूट–बूट पहन कर अंग्रेजी जीवन की नकल की चक्रव्यूह में उलझने लगता है। अंग्रेजों की औद्योगिकरण नीति ने मजदूरों को शहर पहुँचा दिया था। जब मध्यवर्गीय जनमानस शहर में बसना आरंभ किया तो उनके सामने अनेक समस्याएँ पैदा हुईं। वह अपना स्तर ऊँचा उठाने के लिए धन की ओर भागता है। उनकी आकांक्षाएँ विराट हैं, सपने रंगीन हैं जिसकी पूर्ति की चाह में वह 'यादा से 'यादा धन कमाना चाहते हैं। उनकी संवेदना खत्म होने लगी है। धन की चाह में वह वस्तु बनता जा रहा है। वह गलत प्रवृत्तियों में शामिल होने लगा है क्योंकि नगर में मध्यवर्गीय समाज के लिए बाहरी दिखावा, छल, अय्याशी को व्यवसाय बनाया गया। बाहरी दिखावा की चाह में मध्यवर्गीय व्यक्ति के मूल्यों का ह्रास होने लगा। धन वैभव का आर्कषण ही मानव को प्रभावित करने लगे। कर्ज लेकर बड़े–बड़े महलों का निर्माण करने लगे। हिन्दी साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। बहुत से लेखक इसको अपनी रचनाओं में रखते हैं। अज्ञेय लिखते हैं–

'अन्त में अगर मैं
यह भी न कह सकता, कि
टिकाऊ तो
जिस पैसे पर यह–वह दोनों बिकाऊ हैं
(और हम–तुम भी क्या नहीं हैं ?)
वह भी नहीं है–
बल्कि वही तो
असली बिकाऊ है।'[3]

सामाजिक नैतिकता का अवमूल्यन–आधुनिक ज्ञान–विज्ञान ने मनुष्य को बहुत कुछ बुद्धिसम्मत बना दिया था। नीत्शे की इस घोषणा से कि ईश्वर मर गया, बौद्धिक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। धर्मग्रंथों में पाप–पुण्य, अच्छे–बुरे की जो कसौटियाँ कसी गयी थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गयी और पुराने मूल्य विघटित हो गये। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी है। मानव अपने सामाजिक परिवेश से आहत एवं टूटने का भाव महसूस करता है। उनके ईश्वर, सामाजिक, परंपरा, धर्म, नैतिकता के मूल्यों के प्रति अस्वीकृति है।

'ईश्वर पर मुझे विश्वास नहीं

हर स्त्री के साथ सोते समय
मुझे ईश्वरीय सुख की अनुभूति होती है–
मैं आस्तिक होता जा रहा हूँ।'[4]

आधुनिकता का बोध कभी व्यंग्य–शैली में मिलता है। नगर–यन्त्रणा में आधुनिकता की आवाज तीखी और विविध है–

'अनिश्चित तिथियों में जीते हैं सभी लोग
साथियों को देते हैं चुपचाप गालियाँ
उम्र ढलती जाती है, रिसते जाते हैं दिन
इश्क करने को रह जाती हैं बूढ़ी सालियाँ या खुसट घरवालिया'[5]

इन कवियों ने सामाजिक नैतिकता के मूल्य को तोड़ने की बात की है। पूजा–पाठ का विरोध करते हुए भवानी प्रसाद मिश्र नियति को संघर्ष की चुनौती देते हुए कहते हैं–

'मैं छोड़कर पूजा
क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार–
बांधकर मु–ी तुझे ललकारता हूँ
सून रही है तू ?
मैं खड़ा यहाँ तुझको पुकारता हूँ।'[6]

आज जीवन के पथ पर चलता हुआ इन्सान अपने सफर की मंजिल को नहीं जानता है और शंका की दृष्टि से पूछता चला जा रहा है कि इसका खात्मा कब होगा। कविता मैं और एक बट्टचे के चलने से शुरू होती है जो न जाने कब से चुपचाप चल रहे हैं–

'हर कदम पर
पूछता है–खत्म कब होगी
यह गहनतम भाप
जिसकी गर्म अनगिन तहों में
लिपटे हुए
हम चल रहे हैं
खत्म कब होगी,
बताओ
खत्म कब होगी ?
और मैं चुप हूँ
अनाहत चुप हूँ।'[7]

धर्मवीर भारती कहते हैं कि ईश्वर स्वयं ही छलकपट और धोखा देने वाले हैं। महाभारत में आदर्श मूल्यों का विघटन हुआ था। युद्ध का नियम का पालन न करना, सोते हुए मार देना मानव मूल्यों का ह्रास हो रहा था–

''जिनको तुम कहते हो प्रभु

उसने जब चाहा
मार्यादा को अपने ही हित
में बदल लिया
वंचक है।'[8]

उच्छृंखल यौन–संबंध–आधुनिक युग में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से ग्रस्त मानव अपने मूल्यों को तोड़ रहा है। व्यक्ति उपभोक्तावादी बन रहा है। भोग विलास में रत मानव यौन–संबंध की उच्छृंखलता की ओर बढ़ रहा है। साहित्य में यह सब वर्जित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण कविता में यौन चेतना की प्रतिक्रिया सशक्त रूप में व्यक्त होती है। कहीं–कहीं तो काम भावना को साहित्य का सबसे बड़ा वर्ण्य विषय बना दिया गया है। आज की भूखी पीढ़ी में नंगापन इसी प्रकार से व्यक्त हो रहे हैं। आज का व्यक्ति भूख से पीड़ित है। यह भूख पेट की भूख है, अस्तित्व की भूख, महत्वाकांक्षा की भूख, पदलिप्सा आदि की भूख के साथ ही यौन–संबंधों की भूख से ग्रस्त हो रहा है। उसकी यौनवृत्ति अन्य भूख की तुलना में हावी होती जा रही है, परिणामस्वरूप प्रेम का नैतिक विश्वासपरक रूप विकृत हो गया। और आज के युवक–युवतियों पर यौन–प्रवृत्तियों का प्राधान्य स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है। इस भाव वृष्टि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सूझता है। स्त्री पुरुष में लिप्सा, स्पर्धा और सेक्स का भाव प्रबल होता जा रहा है। विवाहेतर संबंध बढ़ते जा रहे हैं, तलाक सामान्य सी वृत्ति बन गयी है। कामवासनाएँ नग्न रूप में उद्घाटित हो रही हैं। अनंत कुमार पाषाण की कविता में उद्दछृंखल यौन–संबंध प्रस्तुत किया है–

'मेरे मन की अंधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षाओं की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है।
पास घर आते तो
दिन भर का थका जिया मचल जाए।'[9]

कुंवर नारायण लिखते हैं–

'आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय,
जिसकी जिंदगी का यही आशय
यहीं इतना भोग्य
कितना सुखी है वह
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।'[10]

अज्ञेय ने कहा कि 'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौनवर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ि की लंबी परंपरा, जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ–साथ विकसित नहीं हुई और दूसरा पक्ष है स्थिति–परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति जिसके साथ रूढ़ि का विकास

असंभव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौंदर्यचेतना भी इससे आक्रांत है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।'[11]

'आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त
तुम कहाँ नारी?'[12]

इन काव्य पंक्तियों में कवियों के द्वारा दमित कामवासना का नग्न रूप प्रदर्शित किया गया है। इनमें साधनात्मक प्रेम का अभाव है, मांसल प्रेम एवं दमित कामवासना की अभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। यौन वर्जनाओं का चित्रण यथार्थ रूप में करते हैं। नगर की महिलाओं पर कसा गया व्यंग्य भी इसमें शामिल है।

'नागरिक भद्र महिलाएँ
अपनी हरी–लाल–पीली–सफेद–काली–छतरी
अब से लूप छतरी या एटम छतरी इस्तेमाल करें।'[13]

इसमें यौन–संबंध का विकृत रूप दिखता है। पारंपरिक परिवेश में जहाँ महिलाएँ यौन–संबंधों पर पर्दा डालती थीं। वहीं आज की आधुनिक महिलाएँ अपनी वासना की पूर्ति के लिए तरह–तरह की सामग्रियों का प्रयोग करने लगी हैं। दैहिक सुख की लालसा में हर प्रकार के बंधन से मुक्त होना चाहती हैं।

औद्योगिकीकरण का समाज पर प्रभाव–औद्योगिक विकास के कारण यंत्रों की भारी संख्या में उपयोग किया जाने लगा। मानव का स्थान अब यंत्र लेने लगे थे जिससे मानव जीवन प्रभावित हुआ। नगरीय परिवेश को जकड़े हुए यांत्रिक जीवन–शैली और मशीन माहौल में सांस लेती जिंदगी के प्रति उन्हें सहानुभूति है। वर्तमान युग की यांत्रिकता से त्रस्त कवि कहते हैं–

'यंत्र हमें दलते हैं,
और हम अपने को छलते हैं, थोड़ा और खट लो
थोड़ा और पिस लो।'[14]

औद्योगिक बस्तीच शीर्षक कविता में अज्ञेय ने औद्योगिकीकरण का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है ? उसका उल्लेख किया है–

'पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी सी घाटी में
ये पँहुच झौंसी चिमनियाँ बराबर,
धुआँ उगलती जाती है।
भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकरों की दुरूसाध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती है'[15]

एक और कविता है जिसमें यह भाव है–

'मानव का रचा सूरज

मानव को भाप बनाकर सोख गया
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।'[15]

मैंने इसे भोगा और झेला अवश्य है, लेकिन वह इस परिवेश में बिके दास के सिवा कुछ नहीं बन सका जिसमें विज्ञान, राजनीति और तिजारत की ताकतों का बोलबाला है। उसका जीवन यान्त्रिक हो गया है। वह इतिहास–पुस्तक की तरह खुला पड़ा है और चेतावनी दे रहा है–

'लेकिन मेरा देश, मेरा पेट, मेरा ब्लाडर, मेरी अंतड़ियाँ
खुलने से पहले
सरजनों को यह जान लेगा
हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा मांस
अथवा मिट्टी
केवल हवा, कीड़े, जरूम और गन्दे पनाले हैं अधिक स्थानों पर
इस देश में
जहाँ सड़ कर फट गयी हैं नसें वहाँ हवा तक नहीं'[17]

गिरिजाकुमार माथुर जी कविता में भी औद्योगिकरण के लिए कट्टची सामग्रियों के खानों की चर्चा करते हैं जो हमारे देश की संपन्नता को दर्शाता है–

'उगल रही हैं खानें सोना
अभ्रक, तांबा, जस्ता, क्रोनियन
टीन, कोयला, लौह, प्लेटिनम
यूरेनियम, अनमेल रसायन
कोपेक, सिल्क, कपास, अन्न–धन
द्रव्य फोसफैटो से पूरित!'[18]

तथाकथित आधुनिकता– आम आदमी की नजर में नगर में रहना, पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण करना यही तथाकथित आधुनिकता है। नगर में रहने वाला मनुष्य अपनी असली पहचान को खो दिया है। मानव के अब अनेक चेहरे हैं। अपने रोजमर्रा की भाग–दौड़ से परेशान वह कई रंग बदलता है। उसके जीवन में तरह–तरह की समस्या भी है फिर भी वह बाहर खुद को बहुत प्रसन्न दिखाता है। वह अपनी वास्तविकता दिखाने में घबराता है। सभ्य दिखने वाला मनुष्य असभ्य हो सकता है और असभ्य दिखने वाला मनुष्य सभ्य भी हो सकता है। पोस्टर को ही सच मान लेता है क्योंकि उनकी संवेदना मर रही है। आगे की काव्य पंक्तियों में इन्हीं भावों को व्यक्त किया गया है–

'बेहिसाब चेहरे हैं
बेहिसाब धन्धे
और उतने ही देखने वाले दृष्टि के अन्धे

जिन्होंने नहीं देखा है
देखते हुए
उस शेष को उस एकान्त शेष को
जो मुझे पहचानता है
पहचानते हुए छोड़ जाता है
समय के अन्तरालों में'[19]

जगदीश चतुर्वेदी की रचनाओं में नगर–बोध की तीखी अनुभूति है। पोस्टर और आदमी में आधुनिकता का बोध को लिए हुए है–

'कि आज के जमाने में
आदमी से 'यादा लोग पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से वड़े सत्य हैं।
पोस्टर
जो दूसरे की बात करते हैं
जिनमें आकर्षण है लेकिन जान नहीं
जो चौराहों पर खड़े रहते हैं,
सबकी राह रोकते हैं, सबको टोकते हैं,
लेकिन किसी से कोई मतलब नहीं रखते–––––'[20]

पोस्टर के माध्यम से इन्सान का नया चेहरा नहीं उभरता जो नगर–बोध का परिणाम है, जिसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है।

अन्यान्य–आधुनिकता के अन्य पहलू भी उल्लेखनीय हैं। दुष्यन्त कुमार की कविता में विसंगति, कुण्ठा में भी आधुनिकता का बोध है–

'प्राप्य सत्य के लिए
महाभारत का जब युद्ध छिड़ेगा
यह कुण्ठा का पुत्र हमेशा
कौरव–दल की ओर रहेगा
और लड़ेगा–––'[21]

इशारा कुँवारी कुन्ती के पुत्र की तरफ है। महाभारत के महारथी कर्ण के कुंठा के माध्यम से वर्तमान में भी ऐसी स्थिति की ओर कवि संकेत करना चाहते हैं–

'कविता से पहले और मृत्यु से पहले
तुम मेरी पृथ्वी हो और मैं तुम्हारा इष्ट देवता हूँ और कबि हूँ मुझे
जन्म देती हो और मेरे साथ रमण करती हो
और मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ अपने मरण में'[22]

इस तरह कविता का अन्त मृत्यु–बोध के साथ होता है। जिससे आधुनिकता का भाव उत्पन्न होता है।

संदर्भ सूची–

1– मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृष्ठ–12

2– इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ–53
3– वही, पृष्ठ–5इ
4– वही, पृष्ठ–52
5– वही, पृष्ठ–52
च– अज्ञेय, सदानीरा–भाग–2, नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 19Np, पृष्ठ–20
7– इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ–42–43
8– वही, पृष्ठ–43
9– वही पृष्ठ–55
10– कुवंर नारायण, कविता कोश
11– भोलाभाई पटेल, अज्ञेय– एक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ–142
12– अज्ञेय, सदानीरा भाग–2, नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 19Np, पृष्ठ–182
13– इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ–32
14– नंदकिशोर नवल–संपादक), अज्ञेय संचियता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001 पृष्ठ 89–90
15– वही, पृष्ठ–195
16– इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ–32
17– वही, पृष्ठ–32
18– वही, पृष्ठ–52
19– वही पृष्ठ–47
20– वही, पृष्ठ–60
21– वही, पृष्ठ–34
22– इंद्रनाथ मदान दअनु–), अस्तित्ववाद और मानववाद–'यां पॉल सार्त्र, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ–5

■

निर्मला पुतुल की कविताओं में उनका अंचल

दीपक ठाकुर *

शोध सार– हिन्दी साहित्य में आंचलिकता शब्द रेणु और उपन्यास इन दोनों के बीच ही आवागमन करता हुआ दिखाई पड़ता है। किंतु आदिवासी विमर्श की कविताओं में उसका जीवंत चित्रण अनेक सुंदर साहित्यिक प्रयोगों के साथ मौजूद है। यह शोध पत्र निर्मला पुतुल की आंचलिकता के संदर्भ में इसी बात को रेखांकित करने का एक प्रयास है। इस शोध पत्र में मैंने निर्मला पुतुल की कविताओं को संदर्भित करते हुए उनकी रचनाओं में आंचलिकता और देशगत भावनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

बीज शब्द– आंचलिकता, फेनूगिलासी, क्षेत्रीयता, थारी–लोटा, फड़फड़ाहट, मुलम्मा, आदिवासियत।

विषय प्रवेश– आंचलिकता या क्षेत्रीयता एक ऐसा शब्द है जो संदर्भगत अर्थ रखता है। किसी भी व्यक्ति की या प्रत्येक व्यक्ति की आंचलिकता संबंधी एक विशेष अवधारणा होती है जो रोचक होने के साथ–साथ महत्वपूर्ण भी होती है। हिन्दी साहित्य के अंतर्गत आंचलिकता शब्द को बहुत सीमित कर दिया गया है। कुछ लेखक और कुछेक रचनाएँ ही आंचलिकता का पर्याय बनती जा रही हैं। साहित्य के विकास और विस्तार की दृष्टि से देखें तो यह प्रक्रिया अन्य साहित्यकारों के मूल्यांकन संबंधी एक दृष्टिकोण को कुंठित करती हुई प्रतीत हो रही है। आधुनिक युग में मौजूद आदिवासी साहित्यकार और उनकी रचनाएँ आधुनिककालीन आंचलिकता को बहुत संजीदगी से रखती आ रही हैं। अपने परिवेश, ग्राम और अंचल के प्रति उनका जो भाव दृष्टिगोचर होता है वो केवल जमीन से जुड़ाव, मिट्टी का आकर्षण या अपने स्थानीय होने का मोह भर नहीं है बल्कि इन सबके साथ एक निरंतर संघर्ष भी जुड़ा हुआ है जो अपनी धरती से जुड़े उनके प्रेम को पुष्ट करता है। प्रेम यदि केवल भावना और संवेदना तक ही सीमित है तो उसमें तुष्टिकरण का एक अभाव निरंतर बना रहता है किंतु संघर्ष उस प्रेम को गलाता है और सोना जैसा बना देता है। आदिवासी समुदाय का अपने ग्राम और अंचल के प्रति प्रेम कुछ इसी प्रकार का ही दिखाई पड़ता है।

***संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद, मेल–deepaknala309@gmail-com

निर्मला पुतुल झारखंड के संथाल परगना की एक सुपरिचित आदिवासी साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी एक अलग पहचान बनाई है। उनकी कविताँ, दरअसल कविताएँ नहीं बल्कि उनके दैनिक जीवनानुभव हैं जो कविता की शक्ल लिए हुए हैं और इसलिए प्रासंगिकता और यथार्थता का समावेश उनमें सहज ही मिलता है। उनकी कविताओं में आंचलिकता का प्रवेश जिस तरीके से हुआ है उससे सहज ही यह पता चलता है कि उनके भीतर की आंचलिकता कोई पूर्वनिर्धारित योजना का अंश नहीं है वरन् लिखने के साथ–साथ सहजता से समाए हुए भावों की तुरपाई है। आंचलिकता का चित्रण मुख्य धारा के साहित्य में रणु, नागार्जुन और मिथिलेश्वर जैसे साहित्यकारों के माध्यम से होता है और आंचलिकता की तमाम व्याख्याओं में सीमित साहित्यिक रचनाओं को देखने की परिपाटी सी भी चल पड़ी है परंतु यदि देखा जा, तो भारत विविधताओं का देश है और भारत के प्रत्येक अंचल की अपनी विशेष आंचलिक विशेषताँ, हैं जो विभिन्न बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से हिंदी भाषा के साथ–साथ तमाम भारतीय भाषाओं के साहित्य में आया है। निर्मला पुतुल आदिवासी विमर्श की एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में मौजूद हैं और उनकी रचनाओं में आंचलिकता का जो समावेश मौजूद है वो अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी रचनाओं में आंचलिकता कोई थोपा हुआ प्रयोग नहीं लगता वरन् स्वयं सिद्ध प्रतीत होता है। जब वो कहती हैं–

''जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन
वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मन से भी ज्यादा तेज दौड़ती हों मोटरगाड़ियाँ
ऊँचे–ऊँचे मकान और
बड़ी–बड़ी दुकानें।[1]

तो यह सहज ही दृष्टव्य होता है कि नवयौवना किस प्रकार अपने बाबा से यह गुहार लगा रही है कि मेरा विवाह वहीं पर करना जहां जंगल, नदी, पहाड़ हो और जीवन में स्थिरता हो। इस भागदौड़ भरी चकाचौंध वाली दुनिया में इस तरीके की आंचलिक चाह रखना उसके भीतर के जमीनी जुड़ाव और आकर्षण को बखूबी दर्शाता है। इस कविता में नवयौवना निरंतर एक ऐसी चाह रखती है जहां वो अपने परिवेश से दूर जा कर भी ऐसी परिस्थिति में हो कि उसकी मिट्टी की गंध उसके आंचल से दूर न हो। जहाँ वो अपनी बकरियों और मुर्गियों की जगह पश्चिमी ब्रीड वाले पालतू बिल्ली और कुत्तों से खुद को घिरा हुआ न पाए। दरअसल आंचलिकता शब्द इनकी कविताओं में अर्थ विस्तार पाता है। जगल, नदी, पहाड़ जैसे प्रतीक आंचलिकता को परिभाषित करने के लिए ठोस आधार साबित हो रहे हैं और इसी के साथ यह भी अभिव्यक्त होता है कि आंचलिक परिवेश में सुविधाँ, कुछ कम हो सकती हैं परंतु जड़–चेतन से जुड़ी आत्मीयता और सहजीविता जिस भाँति पल्लवित होती है वह महानगरों के भीड़–भाड़ भरे

एकांत में दिमाग से इस भाँति संचालित होने लगती है कि मन पिछड़ कर मायूसी से भर आता है। अंचल से जुड़ी ये अवधारणा निर्मला पुतुल की कविताओं के विस्तार को बहुत बेहतरीन ढग से समझाने में मदद करती है।

''अंचल एक देहात हो सकता है, एक भीड़–भाड़ वाले शहर का मुहल्ला भी हो सकता है या इन सब से दूर सघन वन में व्याप्त एक कस्बा भी। हमारे देश के विभिन्न अंचल ही हमारी संस्कृति का प्रतीक है।...वहाँ व्यक्ति का स्थान अंचल ले लेता है...उसके अपने संस्कार होते हैं। इनके जीवन–यापन की शैली वेशभूषा, आवास, व्यवसाय, मनोरंजन के साधन, रीति–रिवाज मान्यताँ, आदि आते हैं। इसके अलावा अंचल का मनोजगत तथा आदि दैविक चेतना, अंधविश्वास टोना–टोटका, जादू, शकुन अपशकुन, व्रत उपवास आते हैं।[2]

सचमुच अंचल की तमाम परिभाषाओं में यदि एकरूपता दृष्टव्य हो तो वो थोथी ही साबित होंगी क्योंकि आंचलिकता तो निज अंचल की विशेषताओं का द्योतक है। आंचलिक रचनाओं में व्यक्ति का स्थान अंचल ले लेता है यह बात कितनी सहजता से यह दर्शाता है कि आंचलिकता की कल्पना व्यष्टि के माध्यम से संभव ही नहीं है। आंचलिकता की भावना में समष्टि का भाव समाहित है और यह अंचल गांव, कस्बों या सुदूर जंगल में बसे किसी बस्ती को परिभाषित कर सकता है। अंचल का मनोजगत अपनी तमाम जरूरतों को आराध्य बना लेता है और प्रकृति को सहजीविता के साथ आत्मसात करता है। दरअसल आंचलिक वर्णन तमाम पक्षों को बहुत ही सुगमता से अपने भीतर समाहित कर लेता है। इसका कोई भी पक्ष यदि छूट जाए तो आंचलिकता का यथार्थ ज्ञान पाठक को नहीं हो पाता है। वास्तव में 'मैला आंचल' की प्रसिद्धि का आधार भी यही है। रेणु जी ने मैला आंचल में अपनी रचनाशीलता को इतना समृद्ध दिखलाया है कि आंचलिकता के हजारों पक्ष पात्रों, दृश्यों, स्थानों, बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से उसमें गूंथे हुए से नजर आते हैं। आदिवासी साहित्यकारों ने भी आंचलिकता के वर्णन में अपनी आदिवासियत को ही और ज्यादा मौजूं बनाया है। वैवाहिक संबंधों का भारतीय भूमि पर विशेष महत्व है। यहाँ विवाह जन्म–जन्मांतरों का संबंध माना जाता है। निर्मला पुतुल की कविता में नवयौवना अपने बाबा से गुहार लगाती हुई कहती है कि –

''कोई थारी–लोटा तो नहीं
कि बाद में जब चाहूँगी बदल लूँगी
अच्छा–खराब होने पर[3]

भारतीय नवयुवतियों के सम्ा निर्मला पुतुल के द्वारा रेखांकित की हुई ये पंक्तियाँ हमेशा प्रासंगिक रहेंगी। थारी–लोटा का आदिवासियत में और विशेष रूप से संथालों में अलग महत्त्व होता है। कांसा–पीतल के बर्तन संथाल परगना के घरों में दैनंदिन जीवन का एक हिस्सा है। कुछ ही साल तो गुजरे हैं जब घरों में कोई आर्थिक संकट आ जाने पर लाग टोला मुहल्लों के अमीर घरानों में कांसा–पीतल के बर्तन बंधक रख कर पैसे उधार लिया करते थे। शादी–विवाह में उनका आदान–प्रदान, मेहमान आने पर लोटे में पानी भर कर उनका स्वागत

करना और फिर इन्हीं कांसे के बर्तनों में भोजन परोस कर देना आदि उनके दैनंदिन जीवन का हिस्सा है। परंतु इन सबसे इतर भी थारी और लोटा बदला जा सकता है, जब उसका मुलम्मा छूट जा, या रंगत मटमैली पड़ जा, तब उसे बदल कर नया लाया जा सकता है परंतु रिश्तों में अगर देखभाल कर वर की चयन प्रक्रिया न हो तब स्त्री जीवन श्राप बन जाता है। आंचलिकता के साथ इस कदर स्त्री विमर्श के इतने बड़े बिंदु को समाहित करना कोई निर्मला पुतुल से सीख सकता है। जीवनसाथी यदि मन का हो तो जीवन सुखपूर्वक बीतता है और जिंदगी के तमाम रंग एक दूसरे पर न्योछावर करते हए लोग गुजर–बसर करते हैं। इसके कई चित्र हैं, हमने कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, फिल्मों और धारावाहिकों के माध्यम से देखा है। निर्मला पुतुल के अपने रंग हैं, उनके रंगों की स्याही से लिखी हुई कविताएँ जब बिंब उपस्थित करती हैं तब वो कुछ ऐसे शब्दों का आवरण लेकर व्यक्त होता है –

''रसोई में भात पकाते
थिरकने लगते हैं मेरे पाँव
मन उड़ियाने लगता है
रूई के फाहे–सा दसों दिस
अभी बहुत सारा काम पड़ा है
घर–गृहस्थी का
गाय गोहाल के गोबर में फँसी है
लानी है जंगल से लकड़ियाँ भी
घड़ा लेकर जाना है पानी लाने झरने पर
और पहुँचाना है खेत पर बापू को कलेवा'

जमीनी यथार्थ के साथ प्रेम का चित्रण कितना आकर्षक और सराहनीय हो सकता है वो इन पंक्तियों में भलीभांति देखा जा सकता है। रसोई में भात पकाते हुए कानों में मांदर के थाप सुनाई पड़ते हैं और पैर न चाहते हुए भी थिरकने लगते हैं। इस आंचलिक प्रयोग में वही भाव दिख पड़ता है जिसमें श्री कृष्ण की बाँसुरी की धुन को सुन कर गोपियाँ व्याकुल हो जाया करती थीं और उनका मन रुई के फाहे सा दसों दिशाओं में उड़ने लगता था। प्रेमी के जीवन का यथार्थ चित्रण हो तो दैनंदिन कार्यों का चित्रण उससे नदारद कैसे रह सकता है ? गाय–गोहाल–गोबर आदि से निपटना, लकड़ियों का गट्ठर माथे पर लाद कर खाना बनाने के लिए लाना तथा खेत पर काम कर रहे बापू के लिए भोजन पहुँचाना जैसे काम भी साथ में ही होते हैं। गांव–जवार में ढोल–मांदर का अपना आंचलिक महत्व होता है। सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, वैवाहिक आदि कई तरीके के कार्यक्रमों में इनकी महत्वपूर्ण उपस्थिति होती है। फिर चाहे गाँव के साप्ताहिक हटिया में कोई सार्वजनिक सूचना देनी हो या विवाह में विशेष रस्में निभाई जानी हों, ढोल–मांदर जैसे वाद्य यंत्र हमेशा प्रासंगिक बने रहते हैं और उन्हीं के साथ प्रासंगिक बनी रहती हैं हाथों में हाथ डाले कदमताल करते हुए नृत्य करने वाली स्त्रियाँ। आंचलिकता के वर्णन को संदर्भित करते हए फणीश्वरनाथ रेणु मैला

आंचल की भूमिका में लिखते हैं– ''इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।[5] फूल, गुलाब, सुंदरता, चंदन तो हर साहित्य का मुखपत्र होता है परंतु शूल, धूल, कीचड़, कुरूपता को यदि दरकिनार कर दिया जा, तो आंचलिक वर्णन असंभव होगा। यथार्थ वर्णन के लिए ये जरूरी है कि प्रिय के साथ अप्रिय का भी समावेश हो। आंचलिक गतिविधियों में जो नकरात्मकता हैं उन्हें भी रेखांकित किया जाए। जब निर्मला पुतुल लिखती हैं कि–

''तुम्हारे पिता ने कितनी शराब पी यह तो मैं नहीं जानती/पर शराब उसे पी गई यह जानता है सारा गाँव/इससे बचो चुड़का सोरेन!/बचाओ इसमें डूबने से अपनी बस्तियों को/देखो तुम्हारे ही आँगन में बैठ/तुम्हारे हाथों बना हंड़िया तुम्हें पिला–पिलाकर/कोई कर रहा है तुम्हारी बहनों से ठिठोली/बीड़ी सुलगाने के बहाने बार–बार उठकर रसोई में जाते/उस आदमी की मंशा पहचानो चुड़का सोरेन/जो तुम्हारी औरत से गुपचुप बतियाते बात–बात में दाँत निपोर रहा है/वह कौन–सा जंगली जानवर था चुड़का सोरेन/जो जंगल लकड़ी बीनने गई तुम्हारी बहन मँगली को/उठाकर ले भागा?[6]

तब रेणु जी के द्वारा लिखी गई पंक्तियाँ जेहन में कोंधने लगती हैं। हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि निर्मला पुतुल सामाजिक कार्यकर्ता पहले हैं रचनाकार बाद में और उन्हें समाज की तमाम कुरीतियों, कमियों और दुरूहताओं का लंबा अनुभव है। जब वो चुड़का सोरेन को संबोधित करती हुई शराब के नशे के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करती हैं तब वो इन तमाम ?ारों की समस्याओं को रेखांकित भी करती हैं जिन घरों में दिहाड़ी मजदूरी करने वाले मजदूर दिन ढलते दिहाड़ी का आधा हिस्सा या कभी–कभी तो पूरा हिस्सा शराब में बर्बाद कर देते हैं और इन्हीं शराब, हड़िया जैसे नशे के कारोबारों के पीछे औरतों के साथ होने वाली कितने ही प्रकार की दुर्घटनाएँ जन्म लेती हैं। बाहर से इन गांवों और अंचलों में हड़िया पीने आया हुआ शख्स, घरों की औरतों पर कैसी कुदृष्टि डाले रहता है, आंचलिकता के वर्णन में इसका चित्रण भी जरूरी है। यदि जंगलों के हक और हुकूक का वर्णन जरूरी है तो उन जंगलों में लकड़ियाँ चुनने गई हुई जो लड़कियाँ गायब हो जाती हैं उनका वर्णन भी जरूरी है। निर्मला पुतुल के काव्य में आंचलिकता आईने की तरह पाठक वर्ग को समाज का हर सच दिखा देता है। उनके लि, आदिवासियत गर्व का विषय तो है ही परंतु उसमें व्याप्त कमियों को उजागर करने में वो कभी पीछे नहीं रहीं।

''निर्मला जी की कविताओं में उनका परिवेश ही प्रमुख रूप में सामने आता है। निर्मला पुतुल की कविताओं से गुजरने पर उनकी कविताओं के बारे में जो बात फौरी तौर पर कही जा सकती है वह यह कि निर्मला पुतुल की कविताओं के तीन प्रमुख आधार हैं। स्त्री होने के कारण लैंगिक आधार, आदिवासी होने के कारण जातीय आधार और संथाल परगना का होने के कारण उनकी कविताओं का एक देशगत आधार भी है।[7]

निर्मला पुतुल की कविताओं को उनके परिवेश ने ही गढ़ा है। सचमुच उनकी कविताओं के कई आधार हैं जिनमें लैंगिक, जातीय और देशगत आधार प्रमुख हैं। लैंगिक असमानता की समस्या आदिवासियत में उतनी व्याप्त नहीं थी जितनी कि बाकी दीकूओं में। परंतु समय के साथ जैसे–जैसे आदिवासी समाज तथाकथित मुख्यधारा के संपर्क में आता गया वैसे ही वो उन समाजों की समस्याओं के प्रभाव से भी ग्रसित होता रहा और इस प्रकार महिलाओं के साथ होती आई असमानताओं के कई रूपों को भी आदिवासी समाज ने जाने–अनजाने स्वीकार कर लिया। हालांकि आदिवासी समाज में भी स्त्री असमानता के कुछ तत्व बहुत मजबूती से विद्यमान थे, किंतु बाहरी संपर्क ने कुछ नए तत्त्व जोड़े और पुराने नियमों को भी शक्ति दी। आदिवासी विमर्श के स्थापित अन्य रचनाकार जहाँ इन कमियों को उजागर करने में हिचकिचाते रहे या जहाँ प्रस्तुत किया भी तो बहुत नपे–तुले शब्दों में, वहीं निर्मला पुतुल की लेखनी में कोई सामाजिक मानक तय नहीं थे ना कोई तराजू ही था जो उनके शब्दों को तोल सके इसलिए उन्होंने सहादत हसन मंटो की राह को अपनाया जहाँ मंटो ने अपने रचना संसार को समाज के अतियथार्थता का आइना बताया था। कबीर की 'ज्यों की त्यों धरि दीन्हि चदरिया' को चरितार्थ करता हुआ उनका काव्य भी सामाजिक यथार्थ का आइना ही है। ठीक इसी प्रकार आदिवासियत को लेकर भी वो अपने काव्य में बहुत संजीदा दिखती हैं। उनकी कविताओं में आदिवासी अस्मिता यथार्थ रूप में सामने आती है और यही कारण है कि उनकी भाषा बिना लागलपेट के अपनी बात कह जाती है। उनकी कविताओं में देशगत आधार तो रचनाशीलता का प्राण तत्त्व है। उनकी कविताओं में देशगत प्रयोग अनेक प्रकार से मुखरित होते हैं। उन्होंने अपनी क्षेत्रीयता तथा देशी होने के भाव को लेकर कभी हीनता का भाव महसूस नहीं किया बल्कि उन्होंने उसे आत्मगौरव का विषय बनाया और नगाड़े की तरह बजते हुए शब्दों के साथ अपनी देशी अस्मिता की भावना को पाठकों तक पहुँचाया। झारखंडी मिट्टी की तरह पके हुए रंगों वाली स्त्रियाँ भी निर्मला जी के लिए आकर्षण का पर्याय हैं अपनी इन्हीं भावनाओं को रुपायित करते हुए वो लिखती हैं –

"अपने चेहरे पर/संथाल परगना की माटी का रंग/भाषा में झारखंडीपन /ठंडी होती दिनचर्या में/ जीवन की गर्माहट/मन का हरापन/भोलापन दिल का/अक्खड़पन, जुझारूपन भी/बच्चों के लि, मैदान/पशुओं के लिए हरि–हरि घास/बूढ़ों के लिए पहाड़ों की शांति/और इस अविश्वास–भरे दौर में/थोड़ा–सा विश्वास/थोड़ी–सी उम्मीद/थोड़े–से सपने[8]

अपनी माटी किसे प्यारी नहीं होती और फिर भारत के अंचलों की माटी! इसने तो प्रेम और संघर्ष की जाने कितनी ही कहानियाँ गढ़ी हैं। अपनी माटी से प्रेम रखने वाले हजारों विभूतियों को हम आज भी पूजते हैं। निर्मला पुतुल को भी अपनी मिट्टी से अनंत प्रेम है। संथाल परगना की जिस मिट्टी में रच बस कर उन्होंने अपने प्राणों को सींचा है और जिस मिट्टी ने उन्हें इतना बड़ा बनाया वो उस मिट्टी को अपने चेहरे पर लगाना चाहती हैं। यह झारखंडी अस्मिता उनके लिए केवल

दिखावे की वस्तु नहीं है बल्कि यह उनकी रचनाओं में सहज ही दिखता है। अपनी भाषा में सर्वत्र उन्होंने अपनी इसी झारखंडी अस्मिता का गौरवपूर्ण निर्वाह किया है और जब तक अपनी क्षेत्रीयता को व्यक्त करने वाले शब्द साहित्य में समाहित न हों तब तक कोई साहित्यकार आंचलिकता के सूक्ष्म चित्रण को किस प्रकार रूप दे सकता है? बोली को परिभाषित करने के लिए फेनूगिलासी शब्द अगर ना प्रयुक्त हुआ होता तो रेणु जी की अनंत भावनाएँ उनके जेहन में ही रह जातीं। चाहे मन का हरापन हो या दिल का भोलापन अपनी भाषा में सबकुछ व्यक्त होता है, जीवंत रूप में चित्रित होता है और इतना ही नहीं वो अपनी इस झारखंडी अस्मिता को बचाए रखने का आह्वान भी करती हैं। उनके जेहन से शब्द प्रस्फुटित होकर बच्चों के लिए मैदान मांगते हैं। शहरों में चिह्नित क्षेत्रों पर बने मैदानों में खेलना और खेलने के अवसर प्रदान करना बहुत सुलभ है परंतु गांव के सैकड़ों एकड़ में फैले मैदान सरकारी योजनाओं और बढ़ती आबादी की जरूरतों की आड़ में कब नक्शे से गायब हो जाते हैं पता ही नहीं चलता। हरी–हरी घासों से भरी गोचर जमीनें कब किसी के अवैधानिक कब्जे का शिकार हो जाती हैं इसका पता ही नहीं चलता। निर्मला पुतुल अविश्वास के इस दौर में विश्वास चाहती हैं, उम्मीद और जीवंत सपने चाहती हैं। समाज के लिए एक साहित्यकार का देय इससे बढ़कर और क्या हो सकता है? निश्चित रूप से निर्मला पुतुल की रचनाओं में आंचलिकता के बिंब कुछ इतनी बारीकी से उतरते हैं जैसे एक पक्षी धरती को छूने से पहले अपने पंखों की गति को मध्यम करता है। वहां फड़फड़ाहट नहीं होती ना कोई अतिरिक्त वेग ही होता है। एक सहजता होती है जो महसूसने की आजादी देती है।

संदर्भ ग्रंथ–

1 कुमार, मुकेश, काव्य संचयन (निर्मला पुतुल), कलमकार पब्लिशर्ष, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ–73
2. https://brainly-in/teÛtbook&solutions/q&3&aancliktaa & kyaa& hai& is & bissy
3. कुमार, मुकेश, काव्य संचयन (निर्मला पुतुल), कलमकार पब्लिशर्ष, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ–74
4. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ–78
5. रेणु फणीश्वरनाथ, मैला आँचल, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2021, पृष्ठ–05
6. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ–19
7. https://www.apnimaati.com/2017/03/blog&post_50&html\m)
8. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ–76

■

अस्मिता चिंतन

दूसरे दशक के उपन्यासों में चित्रित नारी जीवन

मारिया पीटर *

नई सदी वैज्ञानिक, तकनीकी और कृत्रिम मेधा की प्रगति और परिवर्तनों का युग है। आधुनिक जीवन का हर स्तर जैसे व्यक्ति से लेकर, पारिवार, समाज और उससे जुड़े विभिन्न पक्ष जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि में कई परिवर्तन हुए हैं। इस सदी में विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण संचार माध्यमों का भरमार हो गया है। छोटे बच्चों से लेकर बड़े बुजुर्गों तक सब संचार माध्यमों का उपयोग करते हुए अनेक नये विषयों की जानकारी एक ओर हासिल कर रहे हैं, तो दूसरी ओर उसके दुष्परिणामों का शिकार भी बन रहे हैं। इसके समानांतर नारी जीवन भी अत्यंत गहरे रूप से प्रभावित होता आ रहा है।

नई सदी के परिवर्तनों की नींव 20 वीं सदी में ही देखी जाती है। स्वतंत्रता पूर्व नारी अपने माता–पिता व पति और ससुराल पर निर्भर रहा करती थी। वह शिक्षा और स्वतंत्र जीवन जीने से वंचित थी। उसे परंपरागत जीवन विधान को अपनाकर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। बचपन में पिता, विवाहोपरांत पति और पति की मृत्यु के बाद बेटे के संरक्षण में उसे अपना जीवन बिताना पड़ता था। प्राचीन काल में उसके स्वतंत्र जीवन के लिए अयोग्य की जो घोषणा की गई थी, स्वतंत्रता पूर्व तक वही नियम चालू रहा था। भारत का पुनर्जागरण, स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय आदि सामाज सुधारकों के प्रयासों से नारी जीवन में परिवर्तन आया। बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं से उसकी मुक्ति की कोशिशें हुई हैं। विधवा विवाह के द्वारा नारी जीवन को एक दिशा मिली। महात्मा गाँधी जैसे स्वतंत्र सेनानियों की पुकार से स्वतंत्रता संग्राम में कई महिलाएँ सक्रिय रही थी। स्वतंत्रता के बाद दहेज, अनमेल विवाह आदि विवाह से जुड़ी समस्याओं के प्रति भी समाज में चेतना लायी गई है। आधुनिक युग में विकसित नारीवाद और महिला सशक्तिकरण, नारी मुक्ति आदि आंदोलनों से नारी जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आया। वह अपने विवाह को खुद तय करने की क्षमता प्राप्त कर ली। नारी अपनी पारिवारिक और नौकरी के क्षेत्र की सभी जिम्मेदारियों को सक्षमता के साथ निर्वाह कर रही है।

***संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मरीना कैम्पस, चेन्नई (तमिलनाडु)

स्वतंत्रता के बाद नारी जीवन को सुधारने के प्रयास किये गये हैं। स्त्री शिक्षा के द्वारा नारी जागृति का नारा बुलंद हुआ। भारत सरकार की ओर से नारी सुरक्षा, नारी स्वातंत्र्य आदि कायम करने के आवश्यक कदम उठाये गये हैं। नारी पढ़–लिखकर अपने पैरों पर खड़े होने की ताकत धीरे–धीरे प्राप्त करने लगी।

नई सदी में नारी की स्थिति में बहुमुखी विकास देखा जाताहै। वह पढ़–लिखकर विभिन्न क्षेत्रों में अपने अस्तित्व को निरूपित करने और कामय रखने में सक्षम हुई है। वह अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए प्रगति की ओर बढ़ी है। ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में वह पुरुषों की बराबरी करने में कामयाब भी हो गई है। विदेशों में प्रवासी भारतीय नारी, भारतीय महिला के औन्नत्य को साबित करती हुई अपने आदर्श रूप को प्रकट रूप दे रही है। कल्पना चावला जैसी महिलाएँ नासा जैसे महान् संस्थाओं में काम करना ही नहीं, ग्रह–ग्रहांतरों तक भारतीयता को प्रतिष्ठित करने में सक्षम रही हैं। इस प्रकार नई सदी का यह काल नारी प्रगति का काल कहा जा सकता है।

लेकिन जैसे–जैसे नारी विभिन्न क्षेत्रों में कदम रखने लगी, वैसे–वैसे उसकी समस्याओं और जीवन संघर्ष के दायेरे भी विस्तृत हुए हैं। वह एक ओर पहले से चली आ रही समस्याएँ जैसे दहेज, वैवाहिक जीवन, पारिवारिक जीवन, कार्य क्षेत्र में लैंगिक व यौवन शोषण, पुरुष समाज का आधिपत्य आदि समस्याओं से पूरी तरह से मुक्ति नहीं पायी है, तो चंद नारियाँ आज भी संघर्षमय जीवन जीने केलिए विवश हो रही है। आज नारी को भले ही आर्थिक स्वातंत्रता प्राप्त हुई हो, लेकिन, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वावलंब के कारण उसकी समस्यएँ और भी अधिक हुई हैं। वह परिवार में पैसे की लालच में स्वयं माता–पिता के स्वर्थ की शिकार बन रही है, तो दूसरी ओर पति से भी उसे आर्थिक और यौवन शोषण का शिकार होना पड़ रहा है। नौकरी पेशा नारी में भी आर्थिक स्वावलंब के कारण चंद अनपेक्षित गुण जैसे अहं, स्वार्थ, धन की लालच, स्वच्छंदता, विच्छृंखलता, अनैतिक संबंध, परिवारवालों को उपेक्षित करना, वैवाहिक जीवन के प्रति वितृष्णा, समलौंगिक संबंध, सहजीवन, विवाह के प्रति विमुखता आदि पनपे हैं, जिसके कारण न केवल नारी की उन्नति का तिरोगमन हो रहा है, अपितु पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था खतरे में पड़ रही हैं तथा असामाजिक व्यवहार बढ़ता जा रहा है। पति–पत्नी के संबंध विघटित होना, अवैध व विवाहेतर संबंध, प्रेम, अंतर्जातीय प्रेम व विवाह, विधर्मी विवाह, पति–पत्नी का परस्पर अविश्वास आदि स्त्री और पुरुष को हत्या या आत्महत्या के लिए प्रेरित कर रहे हैं। परिणाम स्वरूप नई पीढ़ी की नारी वैवाहिक व्यवस्था के प्रति अविश्वास और जिम्मेदारियों से मुक्त जीवन बिताने की इच्छा से, अविवाहिता रह जाने या सहजीवन व समलैंगिक संबंधों को स्थापित करने की ओर आसक्त हो रही है या पढ़ाई करके नौकरी पाकर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती है। विवाह से भी पढ़ाई और नौकरी को महत्व देने वाली लड़की का चित्रण मनोज सिंह ने अपने कशमकश उपन्यास में संचिता के माध्यम से किया है। संचिता की माँ के कथन से आजकल की नारी का विवाह को प्राथमिक न मानने की मानसिकता का

परिचय मिलता है कि: 'अब इतना अच्छा लड़का घर बैठे बिठाए मिला है।... अब ये पढ़ाई... शादी के बाद खुद देख लेना.... और फिर शायद तेरी इच्छा ही न करे।... फिर उन्हें कौन–सी तुझ से नौकरी करानी है...'[1]

वह नौकरी पेशा नारी के रूप में दुहरा जीवन जीने के लिए भी मजबूर हो रही है। शिक्षिता नारी होने के बावजूद भी वह समस्याओं से मुक्त होने में खुद को असमर्थ पा रही है। नौकरी के कारण वह भले ही आर्थिक रूप से स्वावलंब बनी, लेकिन अपने वेतन का अनुभव करने से भी वह वंचित करती जा रही है। पति और परिवारवाले उसके वेतन के भोगी बने हैं। गली रंगरेजान उपन्यास में लेखिका लता शर्मा नौकरीपेशा नारी अंजू के वेतन का भोग करनेवाले और फिजूल खर्च करनेवाले ससुरालवालों के प्रति टिप्पणी करती है कि "अंजू ने नौकरी जीवन स्तर सुधारने के लिए की थी। सामाजिकता निबाहने और धार्मिक आयोजनों के लिए नहीं।"[2]

आजकल जन्म दिये माता–पिता भी लड़की का शोषण करने से नहीं चूक रहे हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसे विवाह से वंचित करने के कारण आजीवन अविवाहिता रहकर अपने माता–पिता और भाई–भाभियों की आजीवन सेवा करते हुए निर्मम यातनाओं को सहते हुए विवश भरी जिंदगी बिता रही है। पिता और परिवार जन के स्वार्थ की शिकार एक ऐसे भी निर्भया उपन्यास की रजनी बनती है। लेखिका मीना अरोड़ा ने परिवार के लिए देह व्यापार में उतरनेवाली रजनी के समाज सेविका सुधा से कहे गये इस कथन के द्वारा चित्रित किया है कि –"लौटना तो मैं भी नहीं चाहती थी नरकभरी जिंदगी में पर छोटी, छोटू और मां की हालत देखकर मजबूर थी। अब सब बहुत खुश है।"[3]

20 वीं सदी के अंतिम दशक तक यदि देखा जाय, तो समष्टि परिवार का अस्थित्व खतरें में रहा था। सरकारी नौकरी या निजी संस्थाओं में नौकरी करनेवाले परिवार के सदस्यों को भी परिवार से दूर रहने के कारण एकल परिवार भी विघटित हुआ। तलाक, विवाहेतर संबंध, परिवार के किसी एक व्यक्ति की हत्या या आत्महत्या के कारण भी सिंगल पेरेंट परिवार अस्थित्व में आये हैं। शिक्षिता और पढ़ी–लिखी नारी का पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन भी सुखमय नहीं रहा है। कार्यालय में काम की व्यस्थता, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा, उनकी हर जरूरत की पूर्ति करने में माँ के रूप में नौकरीपेशा नारी कामयाब नहीं हो पा रही है। कहीं न कहीं वह अपनी जिम्मेदारियों की पूर्ति करने में चूक रही है। पति और पत्नी के रूप में भी वह अपनी दुहरी जिम्मेदारी के कारण न्याय कर नहीं पा रही है। रजनी गुप्त ने ये आम रास्ता नहीं उपन्यास की मृदु को भी इसी स्थिति से गुजरते हुए चित्रित किया है कि– "थाली फिंकते देख वे भी ताव में आ गयीं और गुस्से में छोटे पर झपट्टा मारते हुए चिल्लाने लगी– श्क्यों नहीं अपने बाप से कहकर खाना वाली रख लेता? मेरे पास उतना टाइम नहीं बचता अब?"[4]

यदि विवाह हो जाता है तो भी पति, सास–ससुर प्रेम और आत्मीयता के स्थान पर स्वार्थ से काम लेते हैं। धन के लिए उनके द्वारा दी जानेवाली यातनाओं को भी उसे झेलनी पड़ती है। यहाँ तक कि उस की खुद की संतान भी माँ की

संपत्ति व धन का न जायज उपयोग करते हुए भ्रष्ट जीवन के लिए आदि हो रही है। नौकरीपेशा नारी की सबसे बड़ी समस्या है दूसंतान की परवरिश। अपनी संतान पर पूरा ध्यान न दे पाने के कारण संतान बुरी आदतों की शिकार बनना ही नहीं, आधुनिकता की मोह में विलासमय जीवन जीने की ओर आकर्षित होकर धन के लिए माता–पिता को प्रताड़ित करती हुई देखी जाती हैं। सपनों की होम डिलीवरी उपन्यास मे लेखिका ममता कालिया ने संतान की परवरिश में चूकनेवाली नौकरीपेशा नारी का चित्रण किया है, जिसके कारण अंत में बच्चे की मृत्यु भी हो जाती है। सर्वेशन के द्वारा रुचि से कहे गये इस कथन से यह जाहिर होता है कि– 'मनजीत की गलती थी बेटे से दब गई उसे अंश का कान पकड़ कर उसे स्कूल से उठा लेना था। अंश धीरे–धीरे नशे की नालियों में फसता गया मनजीत अपनी नौकरी में मस्त रही।'[5]

नारी का जीवन यांत्रिक बनने के कारण उसकी कोमल भावनाएं कठोरता में तबदील हो रही हैं। कोमलता के लिए प्रसिद्ध नारी में धीरे–धीरे कोमलता के तत्व समाप्त से हो रहे हैं। ऐसे में दम्पति दाम्पत्य सुख से भी वंचित होकर यांत्रिक जीवन जी रही है। नगरों व महानगरों में नारी का जीवन ग्रामीण नारी जीवन से भिन्न पाया जाता है। ग्रामों में सीमित परिवेश होने के कारण नारी एक हद तक शांत जीवन जी रही है। जीवन की भागदौड़ की स्थितियाँ उसके जीवन में पनपने की कम संभावनाएं हैं। इसी प्रकार विलासमय जीवन और सैर–सपाट से ग्रामीण वातावरण मुक्त होने के कारण नारी लोगों की आशाएँ और आकांक्षाएँ भी सीमित होती हैं। ग्रामीण नारी का जीवन नगर व महानगरीय नारी के जीवन से भिन्नता रखता है। नगर व महानगर में नारी की चारों ओर फैशन का, आड़ंबर आदि का चकाचौंध होने के कारण उसके परिवार के सदस्य ही नहीं, बल्कि स्वयं भी उनके भोग की आकांक्षा रखती है, जिससे उसके जीवन में सरसता का लोप होकर यांत्रिक बन जाता है। मनोज सिंह के कशमकश उपन्यास में संचिता की मां गायत्री से अपनी पोती गेंसू कहती हैं कि–'तो इसमें बुराई क्या है, जो जिसके पास होगा वही तो दिखाएगा। किसी के पास बुद्धि होती है, कोई अपनी शक्ति बेचता है, कोई अपना घर किराये पर देता है तो कोई अपना हुनर बेच रहा है, क्या फर्क है...।'[6]

भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से वर्गों में विभाजित हुआ है। स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद समाज में तीन वर्ग दिखाई देते हैं–निम्न, मध्य और उच्च वर्ग। लेकिन नई सदी के अंतिम चरण तक और दो वर्ग अस्थित्व में आये हैं। वे हैं– निम्न मध्य वर्ग और उच्च मध्य वर्ग। निम्न–मध्य–वर्ग और उच्च–मध्य–वर्ग की आशाएँ और आकाक्षाएँ अपनी क्षमता से अधिक होने से उत्पन्न परिणामों का असर नारी के जीवन पर भी पड़ा है। चंद पति स्वयं नारी को धन कमाने के यंत्र के रूप में उसकी देह से धंधा करते हुए दिखाई देते हैं। चंद नारियाँ भी धन के प्रति मोह और महत्वाकांक्षा के कारण देह व्यापार करने से भी नहीं चूक रही हैं। इसके लिए तरह–तरह के मार्गों को अपना रही हैं। शरद सिंह अपने कस्बाई सिमोन उपन्यास में कीर्ति एक माँ के कर्तव्य को निभाने के लिए देह व्यापार करने

से हिचकती नहीं है। इसलिए वह धन कमाने का सबसे आसान तरीका देह व्यापार को चुनती है। सुगंधा से कह गये उसके इस कथन में आधुनिक युग में नारी अपनी संतान की परवरिश के लिए मेहनत की कमाई की जगह पर देह व्यापार के द्वारा कमा रही है। उसकी दृष्टि में शील का कोई महत्व नहीं रह गया है। कीर्ति के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि:– हमें अपने बच्चों को अच्छा भविष्य देना था तो कोई रास्ता तो चुनना ही पड़ता। हमें जो आसान लगा, यह हमने चुना।[7]

नौकरी के क्षेत्र में नारी का अपमान उसके शोषण की घटनाएँ भी यत्र–तत्र देखी जाती हैं। चंद माता–पिता ही धन की लालच में अपनी बेटियों के साथ देह व्यापार करवाना ही नहीं, उन्हें कई प्रकार की यातनाएं देकर पीड़ित करते हुए भी देखे जाते हैं। परिवार के सदस्यों के आपसी आत्मीय संबंधों का भी अभाव देखा जाता है। आत्मीयता के अभाव के कारण आज माँ व सास वृद्ध अवस्था में विड़ंबनात्मक जीवन जीने के लिए मजबूर हो रही है, और संतान की उपेक्षा की शिकार बनकर यातनामय जीवन जी रही हैं। आज धन आत्मीय संबंधों के बनने और बिगड़ने का मूल कारण रहा है। स्वाँग उपन्यास में उषा यादव ने बच्चों द्वारा तिरस्कृत विधवा माँ के विडम्बनात्मक जीवन का चित्रण किया है कि "पति ने लाखों की जमीन–जायदाद खड़ी की, पर उनकी आँख मूँदते ही अभागी विधवा को दो रोटियों के लाले पड़ गए। बेटे–बहू की आँखों की शहतीर बन गई। ऐसा भी नहीं कि व्यर्थ की दखलंदाजी का स्वभाव था, फिर भी न जाने क्यों बहुरानी उन्हें ज्यादा दिन झेल नहीं सकी।"[8]

नारी राजनीतिक क्षेत्र में बहुत पहले ही कदम रख चुकी है। प्रायः नई सदी से पूर्व राजनीति में स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। दो हजार के बाद यह संख्या निरंतर बढ़ती गई है। सन् 2023 में 33 प्रतिशत नारी आरक्षण का भी कानून पारित किया गया है। नारी आज ग्राम पंचायती स्तर से लेकर बड़े–बड़े मंत्री पद पर आसीन हो रही है। लेकिन कहीं कहीं यह भी देखा जाता है कि उसके राजनीतिक कार्यकलापों में पति या किसी अन्य पुरुष का हस्तक्षेप होते हुए दिखाई देता है। पुरुष के नियंत्रण में ही वह अपना कार्य संभालते हुए भी देखी जाती है। राजनीति में चंद राजनीतिक नेताओं के द्वारा उसका शारीरिक शोषण भी किये जाते हुए उपन्यासों में चित्रित किया गया है। ये आम रास्ता नहीं उपन्यास में लेखिका रजनी गुप्त ने मृदु के बारे मे प्रदेश अध्यक्ष के इस कथन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में नारी पर होनवाले अत्याचारों का चित्रण किया है कि– "तो ये औकात है राजनीति की तरफ कदम बढ़ाने वाली औरतों की। किस कदर उन्हें नींबू की तरह निचोड़कर परे फेंक दिया जाता है.... कितनी बेरहमी से इस्तेमाल करते हैं ये नेता लोग उसका।" [9] राजनीति में भी यत्र–तत्र नारियों के शोषण की घटनाएँ भी देखने को मिलती है।

इस प्रकार नारी स्वतंत्र होते हुए भी पुरुष आधिपत्य से पीड़ित दिखाई देती है। कार्यालयों में कार्यरत नारी अधिकारियों का दबाव, कार्य का दबाव आदि झेलती है। नारी आज कई क्षेत्रों में कार्य भार संभल रही है। पुलिस विभाग,

सिविल सर्विस, विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि विभागों में पुरुष के बराबर कार्य भार संभाल रही है। एक ओर नारी अपनी उपलब्धियों पर खुशी जता रही है, तो दूसरी ओर उसमें होनेवाली विभिन्न कठनाइयों व संघर्ष भरे जीवन के प्रति भी असंतोष और तनाव की स्थितयों का सामना कर रही है, जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। हृदरोग से पीढ़ित होने वाली नारियों की संख्या आज बढ़ती जा रही है। इसका कारण कार्य क्षेत्र में तनाव की स्थितियाँ ही मानी जा रही है।

नई दशक में धार्मिक क्षेत्र में भी नारी की भूमिका अवश्य देखी जाती है । पुराने जमाने में धर्म और धार्मिक क्रिया–कलाप जैसे पूजा–पाठ, व्रत–उपवास आदि घर और परिवार तक ही सीमित रहते थे। लेकिन, नई सदी में धर्म का संबंध बाह्य कार्य–कलापों से अधिक जुड़ने के कारण धर्म समाज में बहुत बड़ी भूमिक निभा रहा है। नारियाँ भी बड़ी संख्या में धार्मिक कार्य कलापों में अपने आपको संलग्न कर रही है। धार्मिक विश्वासों के विरोध कर मंदिरों में स्त्रियों के प्रवेश का हक की प्राप्ति में कामयाब हो रही है। वह एक ओर साधु–सन्यासियों के सांगत्य में रहकर ज्ञान प्राप्ति की साधना करती है तो, दूसरी ओर आश्रमों में रहकर अत्याचारों व यौवन शोषण की शिकार भी बन रही है। अंधविशावासों के कारण भी वह धोखा खाती हुई व ठगती हुई भी दिखाई देती है। नई सदी में विहार यात्राओं का भी भरमार हो गया है। तीर्थ स्थानों की यात्रा करना, मंदिर दर्शन करना, धार्मिक कार्यों को संपन्न करना, व्रत दृउपवास रखना, पूजा–पाठ आदि में भी नारी की झुकाव दिखाई देती है। धार्मिक अनुष्ठानों की पीर्ति के लिए सास के द्वारा लांछन लगाये जाने की घटनाएँ भी दिखाई देती हैं। लता शर्मा के गली रंगरेजान उपन्यास अंजू जो नौकरीपेशा नारी है, उसकी सास उस पर ऐसा लांछन लगाती है कि पूजा–पाठ और घर में आनेवाले नाते दृ रिश्तेदार के स्वागत सम्मान करके ही उसे ऑफीस जाना है। नौकरीपेशा नारी की इस विवशता को लेखिका ने इस प्रकार चित्रित किया है कि –" जब से अम्माँ–बाबूजी आये हैं, जीवन–शैली में आमूल–चूल परिवर्तन हो रहे हैं। आये दिन सर्वथा अपरिचित नाते–रिश्तेदारों का आना, उनका स्वागत–सत्कार और सप्ताह में चार तीज–त्योहार! पत्रा देखे बिना चूल्हे पर दाल भी नहीं चढ़ाई जाती। अब और जल्दी उठो, पहले नहाओ, पूजा–पाठ निपटाओ, तब खाना बनाओ, फिर स्कूल–कॉलेज जाने की सोचो। न हो तो आज छुट्टी ले लो। मौनी अमावस्या के दिन कॉलेज कैसे जाओगी?... आज बड़मावस है। आज तो बरगदे बनने हैं, बरगद की पूजा होगी ।" [10] कहीं–कहीं त्योहार आदि भी उसके जीवन दुखदायी बनाते हैं

सांस्कृतिक रूप से भी देखा जाय तो नारी में बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। वह पुरानी विचार धारा से मुक्त होती दिखाई देती है। विवाह, स्त्री–पुरुष संबंध, रहन–सहन, खान–पान, पहनाव–ओढ़ाव, भाषा, पाश्च्त्य संस्कृति के प्रति मोह आदि कई विषयों पर उसकी विचार धारा में परिवर्तन दिखाई देता है। विशेषतया आधुनिक पीढ़ि प्रवासी जीवन के लिए आदि होकर, भारतीय संस्कृतिको विस्मृत कर रही है। परिणाम स्वरूप उसकी भारतीयता और भारतीय जीवन विधान के प्रति धारणा बदल गई है। वह पाश्चात्य संस्कृति और जीवन शैली की

ओर प्रभावित हुई है। अधिकांश भारतवासी नौकरी की तलाश में प्रवास होने के कारण भी विदेशी संस्कृति अत्यंत तेजी से भारत में प्रवेश कर भारतीय सासंस्कृतिक परिवेश को तेजी से बदल रही है। परिणामतः नारी जीवन के विभिन्न पक्ष भी प्रभावित हुए हैं। भगवंत अनमोल के जिंदगी 50–50 उपन्यास में अनमोल को पुत्र संतान होने पर वह 5 स्टार होटल में पार्टी का आयोजन करते हैं। पार्टी में आशिका पति के साथ खुद शराब पीती है। अनमोल अपनी पत्नी पर हावी हुई विदेश संस्कृति पर इस प्रकार सोचता है कि– " वेटर दो पैग लेकर आ गया । हम दोनों ने एक–एक पैग उठाया और चियर्स करते हुए सिप लेने लगे। बकार्डी व्हिस्की क्रैनबेरी जूस के साथ बिलकुल जूस की तरह लगती है। इससे मेरी बीवी को भी कोई समस्या नहीं होती पीने में और वह मेरा साथ भी दे लेती है। ''[11]

इस प्रकार देखा जाय तो नई सदी एक परिवर्तन का काल है। जीवन के प्रति की दृष्टि में ही बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। नई सदी का दूसरा दशक भी संक्रमण का काल ही रहा है। क्योंकि नई सदी में कोई भी विचार या भाव स्थिर नहीं रहा। उसके अस्तित्व का काल अत्यंत छोटा रहा। परिवर्तन की गति अत्यंत तेज रही। इसलिए, कोई शाश्वत मूल्य या शाश्वत विचार नहीं रहा। इसलिए जीवन और उसकी गतिविधियाँ भी अत्यंत तेजी से बदलती जा रही हैं। साहित्य समाज का दर्पण है। जितनी तेजी से समाज परिवर्तित हो रहा है, उतनी ही तेजी से साहित्यकार भी अपने साहित्य में इन परिवर्तनों को अंकित करता आया है। नई सदी के दूसरे दशक के परिवेश का निर्माण उसके पूर्ववर्ती सदी की पृष्ठभूमि में हुआ है। यह नये और पुराने का मिश्रित और संधिकाल रहा है। इसलिए, साहित्य में भी संधि स्थितियाँ और विचारधाएँ अंकित किये गये हैं। दूसरे दशक का नारी जीवन भी संधि स्थिति से गुजरने के कारण उसको अच्छे और बुरे परिणामों से प्रभावित होते हुए चित्रित किया गया है।

संदर्भ सूची–

1. पृ.स. 60 कशमकश, मनोज सिंह
2. पृ. सं. 28 गली रंगरेजान, लता शर्मा
3. पृ. सं. 128 एक ऐसी भी निंभया, मीना अरोड़ा
4 पृ. सं. 21 ये आम रास्ता नहीं, रजनी गुप्त
5 पृ. सं. 50 सपनों की होम डिलीवरी, ममता कालिया
6. पृ. सं. 320 कशमकश, मनोज सिंह
7. पृ. सं. 192 कस्बाई सिमोन, शरद सिंह
8. पृ. सं. 48 स्वाँग, उषा यादव
9. पृ. सं. 11 ये आम रास्ता नहीं, रजनी गुप्त
10. पृ.सं. 27–28 गली रंगरेजान, लता शर्मा
11. पृ. सं. 57 जिंदगी 50–50, भगवंत अनमोल

■

दलित चेतना के विकास में स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' के साहित्य का योगदान

डॉ. रवि रंजन *

भारत में जाति–भेद के विरुद्ध नवजागरण के जिन महापुरुषों ने संघर्ष किया, उनमें ज्योतिबा फूले का नाम प्रातः स्मरणीय है। इनके अतिरिक्त नारायण गुरु, पेरियार, घासीराम, चाँद गुरु, स्वामी अछूतानंद की भूमिका अत्यंत क्रांतिकारी थी। हिन्दी प्रदेश में खासतौर से पश्चिमोत्तर क्षेत्र में जाति–भेद के विरुद्ध संघर्ष करने वालों में स्वामी अछूतानंद का नाम लिया जाता है। ये अम्बेडकर से थोड़ा पहले हुए थे। अम्बेडकर से पूर्व दलित आन्दोलन की एक स्पष्ट दशा और दिशा न होने के बावजूद स्वामी अछूतानंद ने दलितों की स्थिति सुधारने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किया था। हिन्दी प्रदेश के पश्चिम क्षेत्रों में उनके प्रयास का स्पष्ट प्रभाव हमें उनके साहित्य में देखने को मिलता है। इस शोध–पत्र के माध्यम से दलित आन्दोलन में स्वामी अछूतानंद के प्रभाव को रेखांकित एवं विश्लेषित किया गया है।

बीज शब्दः नवजागरण, अनभिज्ञ, निर्वासित, कालांतर, सूत्रधार, हित–चिंतन, वर्ण–व्यवस्था इत्यादि।

आधुनिक भारत में दलित–जागरण के जो आरंभिक प्रयत्न हुए उनका महत्त्व इस दृष्टि से है कि नवजागरण की चेतना का उनसे विस्तार होता है। बंगाल का भारतीय नवजागर.ा हो अथवा सन् 57 ई– की राज्य क्रांति से प्रेरित होकर उत्पन्न हिन्दी नवजागरण हो। इनका सम्बन्ध थोड़े से पढ़े–लिखे बुद्धिजीवियों से था। किंतु मराठी बांग्ला, तमिल आदि में जो दलित चेतना व्यक्त हो रही थी, उसका गहरा सम्बन्ध भारतीय समाज की जड़ों से था। नवजागरण का शुरू सर्वप्रथम कलकत्ते में हुआ, किन्तु कालांतर में वह सम्पूर्ण भारत में फैल गया। नवजागरण के अनेक सत्रधार जाति–व्यवस्था की बुराईयों से अनभिज्ञ थे। इसमें दलित लेखकों की भूमिका उनसे भिन्न दिखाई पड़ती है। उन्होंने जाति भेद के विरुद्ध गहरी चेतना व क्षमता के साथ संघर्ष किया। कँवल भारती ने स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' के बारे में लिखा है कि ''स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' के बारे में हिन्दी साहित्य का इतिहास उसी तरह मौन है, जिस तरह भारतीय राजनीति का

***संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग, धर्म समाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, Email: rranjanmuz@gmail.com

इतिहास डॉ– अम्बेडकर के बारे में। इसका इसके सिवाय क्या कारण हो सकता है कि इतिहास के ब्राह्मण लेखकों ने दलित वर्ग के इन दोनों नायकों को ब्राह्मणवाद का विरोधी मानकर इतिहास में जानबूझकर स्थान नहीं दिया। कहीं थोड़ा–बहुत स्थान दिया गया तो उन्हें 'खलनायक' बनाकर, लेकिन दलित वर्गों ने इन दोनों नायकों को अपने इतिहास अपनी स्मृतियों में सदैव जीवित रखा, जिस तरह उन्होंने कबीर और रैदास को रखा।''[1]

स्वामी अछूतानंद ने दलित–आन्दोलन के लिए जो सबसे बड़ा कार्य किया, वह था प्रवर्त्तन। उनकी मान्यता है कि ''भारत की दलित जातियां ही यहां की मूल निवासी हैं। वही आदि हिन्दू है। बाहर से आये आर्यों ने उनकी जगह ले ली और उन्हें कालांतर में अछूत और दलित घोषित कर दिया। प्रसंगवश आदिवासी शब्द पर विचार किया जा सकता है। आज भी बड़ी संख्या में जंगल से निर्वासित होकर शहरों में निवास करने के लिए विवश हैं। इस आशय से जुड़ा आदि धर्म का आन्दोलन पंजाब की दलित जातियों को सबसे ज्यादा आकृष्ट किया था, किंतु गुरू नानक देव के सिख धर्म ने पंजाब में दलितों को सवर्णों की समकक्षता प्रदान कर दी। इसलिए धीरे–धीरे वहां दलित चेतना कुंठित होती चली गई। अछूतानंद के आदि हिंदू आंदोलन का मकसद दलित जातियों को उनके इतिहास से जोड़ना था और उन्हें बताना था कि ब्राह्मणों ने किस तरह दलितों को इतिहास से विमुख बनाकर अपनी गुलामी करने के लिए विवश किया है। अछूतानंद जी की आह्वानात्मक वाणी द्रष्टव्य है–

''आदि हिंदू वंश का डंका बजाने चलो।/कौम को नींद से जगाते चलो।।
आर्य, शक–हूण बाहर से आए यहाँ/और मुस्लिम ईसाई जो धाए यहाँ।।
सब विदेशी हैं कब्जा जमाए यहाँ।/खोज कर सारी बातें बताते चलो।।
काम बिगड़े हुए सब बनाते चलो।/आदि हिंदू का डंका बजाते चलो।।''[2]

स्वामी अछूतानंद भी प्रारंभ में आर्य समाजी थे। आर्य समाज में थोड़े ही दिन रहकर वे बाहर निकल आये। जब वे आर्य समाज में गये तो वे इस भाव से गये कि आर्य समाज हिन्दू जाति को एकता के सूत्र में बांधना चाहता है, लेकिन उसमें रहकर अछूतानंद ने देखा कि आर्य समाजी ईसाई और मुसलमानों से शत्रुता बढ़ाकर हिन्दुओं को वेदों तथा ब्राह्मणों को दास बना रहे है। अछूतानंद ने कहा कि आर्य समाजी शुद्धिकरण का जो कार्यक्रम चलाते हैं, वह एक ढोंग से अधिक कुछ नहीं है। वस्तुतः ये वर्ण व्यवस्था को सुदृढ़ करने में लगे हुए है। स्वामी अछूतानंद ने आर्य समाज को दलित–चेतना के विस्तार में बाधा डालने वाली संस्था के रूप में देखा। अब वे दलित समाज को आर्य समाज से मोहजाल में मुक्त करने में लग गये।

स्वामी अछूतानंद जी 1905 ई– में आर्य समाज में संन्यासी सच्चिदानंद जी के शिष्य बने और आर्य समाज का प्रचार करने लगे। उसी समय ये अपना नाम बदलकर हीरालाल से 'स्वामी हरिहरानंद' कर लिये। उसी समय से इन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' और वेदों का अध्ययन किया। लगभग सात वर्षों तक स्वामी जी ने आर्य समाज का प्रचार–प्रसार किया। 1912 ई– में आर्य समाज की नीतियों

से मोहभंग हो गया। आर्य समाज को छोड़कर कबीरपंथ को अपना लिया। उन्होंने प्रसंगवश लिखा है कि–

''वेद में भेद छिपा था, हमें मालूम न था।
हाल पेशीदा रखा था, हमें मालूम न था।
'मनु' ने सख्त थे कानून बनाये 'हरिहर'।
पढ़ना कतई मना था, हमें मालूम न था।''[3]

स्वामी अछूतानंद जी ने जाति–आन्दोलन चलाने के लिए 'आदि हिंदू प्रेस' की स्थापना की। स्वामी जी दलित प्रदेशों में दलित चेतना से लैस होकर पत्रकारिता करने वाले कदाचित प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने 'आदि हिंदू' तथा 'अछूत' नामक पत्रों का सम्पादन करके हिन्दी में दलित पत्रकारिता की शुरूआत की। वह हिन्दी क्षेत्र के प्रथम दलित लेखक, पत्रकार और सम्पादक थे। उन्होंने दलितों का इतिहास लिखा। उनकी रची हुई कविताएँ दलित समाज के लोग गा–गाकर पढ़ते थे। उनके नाटकों से दलित जनता में जागृति आई।

डॉ– हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं कि– ''स्वामी अछूतानंद साहित्य, पत्रकारिता, कला, नाटक इत्यादि सांस्कृतिक कार्यों को दासता से मुक्ति का आधार मानते थे। 1921 से 1927 के बीच उन्होंने अनेक गीत, नाटक और कविताओं की रचना की। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'चेतावनी' थियेटर–ध्वनि और 'अछूत' शीर्षक से अनेक कविताँ, और गीत, 'मनुस्मृति हमको जला रही है', 'वेदों में भेद छिपा था' एवं नाटक–थियेटर के लिए अनेक गीत हैं। इन तमाम रचनाओं पर महात्मा फूले के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है।''[4]

भारत की राजनीति में डॉ– बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर की सक्रिय होने की पस्थितियाँ निर्मित हुई। दलित साहित्य के इतिहास में स्वामी अछूतानंद का नाम स्वणाक्षरों में अंकित करने योग्य है। उन्होंने प्रारंभ में दो ग्रंथों की रचना की थी।

1– मायानंद बलिदान
2– रामराजय न्याय

स्वामी अछूतानंद जी 'हरिहर' उपनाम से कविताएँ भी लिखते थे। अपनी 'आदि हिंदू' सम्बन्धी अवधारणा को रचनात्मक रूप देने के लिए आल्हा छंद में 'आदि खण्ड' नामक काव्य की रचना की थी। इस ग्रंथ के ऊपर सबसे पहले लिखा है– 'जय अछूत' (अपवित्र), 'सदगुरू भगवान' बीच में उन्होंने लिखा 'आदि वंशी' (हिंदू के आदिवासी) जनों के गुरुत्व का प्रदर्शन। इसका प्रकाशन पहली बार कन्नौज की 'आर्य हिंदू सभा' में 3 मई 1929 ई– को किया था। इनका आरंभ आदिखंड के रूप में इन पंक्तियों से होता है–

''पहिले सुमिरो सत गुरू स्वामी, दिन्हा लौकिक आत्म ज्ञान,
ब्रह्म रूप चेतन घट–घट में, व्यापक सकल सृष्टि दरम्यान।''[5]

इस ग्रंथ के आरंभिक अंशों में हिंद की प्रशंसा के साथ जगदुस्त, जन्दावस्ता अथवा ऋग्वेद आदि की भाषा का वर्णन है। इसमें आदि हिंदू के

उद्‌भव और विकास की कथा कही गई है। अछूतानंद जी का कहना है कि ऋग्वेद आदि हिंदुओं की रचना है। यदि उन्हें आर्य कहा जाता है तो वस्तुतः वे दलित के वंशज थे। ये पंडित, ब्राह्मण वेद का पन्ना हमसे छिपाकर हमारे ही पूर्वजों की विरासत से हमें वंचित कर रहे हैं। संयोग से हममें से कोई वेद और इतिहास पढ़–लिख सकने में समर्थ हो जाता हैं तो ब्राह्मण उसे अपनी द्विज की श्रेणी में रख देते हैं, ताकि वह अपने वंश का विकास नहीं कर सके। यदि वह उनके कहने में नहीं आवे और अपने वंश के लोगों को जगाना शुरू कर दे तो भारत के आदि हिन्दू जाग जाये और जो नकली हिन्दू है उनकी दुर्गति हो जाए। वे दलितों से कहते हैं कि–

''जो आजाद होना तुम चाहो, तो अब छाँह देउ सब 'छूत',
आदि वंश मिल जोर लगाओ, पन्द्रह कोटि सछूत 'अछूत'।''[6]

दलितों के उत्थान के लिए अछूतानंद ने ब्राह्मणवाद से लड़ना आवश्यक माना है। क्योंकि भारत में वर्ण–व्यवस्था के संस्थापक और प्रचारक ब्राह्मण ही हैं। जिन्होंने सच्चे हिंदुओं को अछूत घोषित कर दिया है। यह ब्राह्मण ही है, जो सामंतों का हित–चिंतन करता है और दलितों को देखकर दूर से ही कहता है– 'हटो–हटो'। अछूतानंद की एक बड़ी प्रसिद्ध कविता है 'खरी–खरी फटकार'। इसमें इन्होंने लिखा है कि–

''मैं अछूत हूँ, छूत न मुझमें, फिर क्यों जग ठुकराता है?
छूने में भी पाप मानता, छाया से घबराता है?
मुझे देख नाकें सिकोड़ता, दूर हटा वह जाता है।
'हरिजन' भी कहता है मुझको, हरि से बिलग कराता है।''[7]

अछूतानंद दलितों के उस पीड़ा का अनुभव करते हैं जो सवर्णों के व्यवहार से रूग्ण हुए हैं। वे उसे हरिजन कहते हैं फिर उसे मंदिर में जाने से रोकते हैं। इस भेदभाव से उबकर जब दलित अपना धर्म परिवर्तन कर लेता है तो तो उनकी प्रतिष्ठा बदल जाती है–

''फिर जब धर्म बदल जाता है, मुसलमान बन जाता हूँ।
अथवा ईसाई बन करके, हैट लगाकर आता हूँ।
छूत–छात तब मिट जाती है, साहब मैं कहलाता हूँ।
उन्हीं मंदिरों में जा करके उन्हें पवित्र बनाता हूँ।।''[8]

स्वामी अछूतानंद जी कहते हैं कि–

''हम विसर्ग सो भारत स्वामी, यह हमरौ उद्यान।
'हरिजन' कहि 'हरिहर' हमरौ तुम, काहे करत अपमान।।''[9]

स्वामी अछूतानंद ने 'मनुस्मृति' को भी अपनी बुरी दशा का कारण माना है। इन्होंने 1925 ई– में 'मनुस्मृति से जलन' नामक कविता में मनुस्मृति की कड़ी आलोचना की है–

''निश दिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है।
ऊपर न उठने देती, नीचे गिरा रही है।।

ब्राह्मण व क्षत्रियों को सबका बनाया अफसर।
हमको 'पुराने उतरन पहनो' बता रही है।।
दौलत कभी न जोड़े, गर हो तो छीन ले वह।
फिर 'नीच' कह हमरा, दिल भी दुखा रही है।।
कुत्ते व बिल्ली मक्खी, से भी बना के नीचा।
हा शोक ग्राम बाहर, हमको बसा रही है।।''[10]

इस तरह के अनेक झकझोरने वाली पंक्तियाँ अछूतानंद ने कहीं है, किसने दलितों की चेतना के विकास में क्रांतिकारी कार्य किया है। वास्तव में अछूतानंद ने ऐसे समय में दलितों–आदिवासियों की सुप्त सोच एवं चेतना को जाग्रत एवं विकसित करने का काम किया, जिस समय हमारा समाज जाति–पाति, छूआछूत की जहन बेड़ियों से जकड़ा हुआ था। निःसंदेह दलित चेतना के जागरण एवं विकास में अछूतानंद जी का ऐतिहासिक भूमिका है। उनके उल्लेख के बिना दलित चेतना एवं आन्दोलन के विकास का इतिहास अधूरा है।

संदर्भ–सूचीः–

1.भारती कंवल, संपा, स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर', संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ– 13

2.'राज', डॉ. राजपाल सिंह, स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' व्यक्तित्व और कृतित्व, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, 2009, पृ– 66

3.कुमार, अजय, दलित ज्ञान की देशज परंपरा : उत्तर भारत में दलित आंगिक ज्ञान की निर्मित और आधुनिक मूल्यबोध वाया हिन्दी दलित पत्रकारिता, पल्लव (संपा.), सितम्बर, 2023, अंक 65, वर्ष 15, पृ– 14

4. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन ग्रुप, नयी दिल्ली, 2023, पृ– 316

5. भारती, कंवल, स्वामी अछूतानंद जी 'हरिहर', संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ– 113

6. वही, पृ– 120

7. नैमिशराय, मोहनदास, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादेमी, 2018, पृ– 48

8. 'राज', डॉ– राजपाल सिंह, स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, 2009, पृ– 85

9. भारती कंवल, स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर', संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ– 139

10. भारती कंवल, स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर', संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ– 128

■

21वीं सदी के उपन्यासों में वृद्ध जीवन

एम. पोन्नैया *

मनुष्य के जीवन काल में शैशवावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था जितनी महत्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं, उतना ही महत्वपूर्ण है वृद्धावस्था भी। यह अवस्था जितनी दुखदायी है, उतनी ही सुखदायी भी है। यह इसलिए सुखदायी और महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति अपने आजीवन अर्जित अनुभवों से खुद संतुष्टमय जीवन जीता है और समाज के लिए भी अपने अनुभवों से भावी पीढ़ी और समाज को मार्गदर्शन भी करता है। इस अवस्था में वृद्ध परिपक्व मानसिकता के होते हैं और अनुभव के भंडार भी। वे अपने उन अनुभवों के माध्यम से नई पीढ़ी को ही नहीं, समाज और देश का भी मार्ग निर्देश करने में सक्षम रहते हैं।

प्राचीन काल में सनातन धर्म के व्यवस्थापकों ने मनुष्य जीवन काल को 4 अवस्थाओं में विभाजित करते हुए एक–एक अवस्था के स्वरूप, लक्षण और कर्तव्य–कर्मों का निर्देश दिया था। इन चारों अवस्थाओं को आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत नियोजित किया गया था। व्यक्ति जीवन के प्रथम 25 वर्ष की अवधि को ब्रह्मचर्य आश्रम, दूसरे 25 वर्ष की अवधि को गृहस्थाश्रम, तीसरे 25 वर्ष की अवधि को वानप्रस्थ आश्रम और अंतिम 25 वर्ष अर्थात् व्यक्ति के 75 वर्ष के उपरांत सन्यास आश्रम के रूप में विभाजित कर केवल व्यक्ति के सुनियोजित जीवन व्यवस्था का प्रतिपादन ही नहीं, अपितु सामाजिक व्यवस्था को भी क्रमबद्ध करने के निगूढ़ अर्थ को भी प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन काल के इस आश्रम व्यवस्था के प्रतिपादन में व्यक्ति के क्रमबद्ध और संतुलित जीवन का रूप प्रतिबिंबित हुआ है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याध्ययन, ज्ञान–विज्ञान की प्राप्ति, संयमित और अनुशासित जीवन आदि पर बल दिया गया है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति विवाह संस्कार से युक्त होकर गृहस्थ जीवन जीते हुए धर्मबद्ध होकर अर्थ कमाते हुए, भौतिक इच्छाओं की पूर्ति और धार्मिक अनुष्ठानों का निर्वाह करते हुए मोक्ष मार्ग के लिए आवश्यक कार्य आचरण का प्रतिपादन किया गया है। 50 वर्ष के बाद व्यक्ति को अपने गृहस्थाश्रम का त्याग कर वन के लिए पत्नी समेत वन प्रस्थान का निर्देश दिया गया है। वन में अन्य वानप्रस्थों के साथ रहते हुए, आध्यात्मिक जीवन के साथ साथ ब्रह्मचारियों को ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देने के

*संपर्क – शोधार्थी, मद्रास विश्वविद्यालय मेरीना कैम्पस, चेन्नई –5.
मो.नं. 9003402602, Email-ponnaiahbhoopathiraja@gmail-com

द्वारा नई पीढ़ी को जीवन की सफलता की ओर अग्रसर करने का मार्ग सुझाया गया है। सन्यास आश्रम में व्यक्ति सब प्रकार की चिंताओं और इच्छाओं से मुक्त होकर तपस्या करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होने का मार्ग दिखाया गया है। व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन का समन्वय इस सनातन आश्रम व्यवस्था मूल उद्देश्य रहा था। लेकिन, समय परिवर्तन के साथ आश्रम व्यवस्था की जड़ भी हिलने के कारण धीरे–धीरे इस व्यवस्था का अंत हो गया है। आज के विकसित ज्ञान–विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आर्थिक व्यवस्था मे बदलाव आदि के कारण जीवन के लक्ष्य भी बदले हैं। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आया है। जीवन भोगने के लिए माननेवाली पाश्चात्य संस्कृति और मानसिकता आधुनिक पीढ़ी में हावी हुई है। अर्थ कमाने और काम की पूर्ति की कोई आयु की सीमा अब नहीं रह गई है। वृद्धावस्था में माता–पिता का बोझ संतान को ढ़ोना पड़ पर रहा है। ऐसे में आजकल के आर्थिक परिवेश में माता–पिता का पोषण संतान के लिए भार बन गया है। इससे माता–पिता को बीच सड़क में छोड़ने की संस्कृति विकट रूप धारण करती जा रही है। यदि संपन्न संतान हों, तो माता पिता को वृद्धाश्रम में रखा जा रहा है। यही नहीं, पीढी का अंतराल, परिवार के सदस्यों के प्रति प्रेम और आत्मीयता का अभाव, संपत्ति की लालच, स्वार्थ, बेसब्र आदि वृद्ध समस्याओं के मूल कारण रहे हैं। पीढ़ी के अंतराल के कारण वृद्ध ऐसे पड़ाव पर पहुँचकर ऐसा मेहसूस करने लगें हैं कि मानो वे एक नई दुनिया में रह रहे हैं। वृद्ध की उम्र बढ़ने के साथ–साथ कई बीमारियों का शिकार होना भी स्वाभाविक ही है। इन स्थितियों में वह अकेले जीवन जीने के लिए मजबूर होता है और परिवार की उपेक्षा का शिकार बनता है।

आज के समाज में दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही वृद्धों की समस्याओं पर विचार–विमर्श की एक चिंतन धारा का विकास हुआ है। आज का साहित्यकार वृद्धों के जीवन को आधार बनाकर उनके जीवन के विविध पक्षों पर विचार करने पर उतरा है। वैसे तो, हिन्दी साहित्य जगत् में ऐसे कई उपन्यास और कहानियाँ लिखे गये हैं कि उन सभी में वृद्धों के दुखभरी जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। 21वीं सदी से पूर्व भी ऐसे साहित्य का भण्डार मिलता है, जहाँ वृद्धों के जीवन पर चर्चा की गई थी। प्रेमचंद की पंचपरमेश्वर, कमलेश्वर की चीफ की दावत आदि ऐसी कहानियों की कोटि में आती हैं, जो वृद्ध अपने ही लोगों के द्वारा शोषण के शिकार बनते हैं। यदि देखा जाय तो, उन कहानियों का परिवेश सीमित था। व्यक्ति की लालच वृद्धों की यातनाओं का कारण रही थी। लेकिन, आजकल संसार का दायरा उससे कई गुनाह विस्तृत हो गया है। आज व्यक्ति गाँवों से शहर, नगर, महा नगर, और देश–विदेशों में बस रहा है। ऐसे में उसे भी दुख–दर्द, विवशताएं और विडंबनाएँ को झेलना पड़ रहा हैं। संतान के जीवन के तौर तरीके वृद्ध जीवन को प्रभावित करते हैं। वे अपने माता–पिता के प्रति समर्पित होने में खुद को अक्षम पाते हैं। वे अपनी व्यस्थता के कारण वृद्ध माता–पिता के साथ न्याय नहीं कर पाते। जो व्यक्ति युवावस्था में अपने स्वजनों के साथ बैठकर

आराम से दो एक–बात करने तक का समय नहीं दे पाया, वही जब सेवा निवृत्त हो जाता है, तो उसका समय कटता ही नहीं। फिर वहीं स्थिति उसके साथ भी दुहराती है कि उसकी संतान अपना समय उसे देने में असमर्थ पाती है। वह फिर अपने माता–पिता की तरह अकेले जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाता है। ऐसे में चंद वृद्ध खुद को चुस्त रखने का भरसक प्रयत्न करते हैं, जबकि चंद मृत्यु की इंतजार में खाली बैठे रहते हैं। बहुतेरे लोगों को अकेलापन अभिशाप लगता है, तो कुछ को वरदान। स प्रकार आजकल वृद्ध जीवन के कई आयाम उभरकर आये हैं। 21वीं सदी में वृद्ध जीवन और वृद्ध विमर्श साहित्य का एक एक प्रधान विषय बन गया है। वृद्ध जीवन को आधार बनाकर कथा साहित्य लिखनेवाले लेखक और उनका कथा साहित्य भी 21वीं सदी में अत्यंत विपुल रहा है।

भारतीय परिवार में हर परिवार के मां–बाप अपने बच्चों का लालन पालन बड़े ध्यान से करते हैं। उन्हें आत्मावलंबी बनने का भरसक प्रयत्न करते हुए, उन्हें उचित शिक्षा देने का प्रबंध करते हैं। जब वे अपने पैरों पर खड़े होने में सक्षम हो जाते हैं, तो वृद्ध मां–बाप को भूलकर उन्हें अकेले छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे में आजकल वृद्ध कॉलोनियाँ जन्म ले रही हैं, जिस में घर होते हैं और घरों में सिर्फ वृद्ध दंपति रहती है। आजकल के वृद्ध जीवन की विडंबनात्मक स्थिति का चित्रण ममता कालिया के दौड़ उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास की रेखा को जब अपने दूसरे बेटे सघन के नौकरी की फेर में घर छोड़कर बड़ा बेटा पवन के साथ चले जाने की स्थिति आती है, तो व्याकुल होकर कहती है– 'इसको भी ले जाओगे, तो हम दोनों बिलकुल अकेले ही रह जाएंगे। वैसे ही यह सीनियर सिटीजन कॉलोनी बनती जा रही है। सबके बच्चे पढ़ लिख कर बाहर चले जा रहे हैं। हर घर पर समझो एक बूढ़ा, एक बूढी, एक कुत्ता और एक कार, बस यह रह गया है' ।[1] वृद्ध जनों के अकेलेपन का इससे बड़े मार्मिक शब्दों में उतारना शायद ही संभव है। इससे स्पष्ट होता है कि आजकल वृद्धों के नाम से एक कालोनी का निर्माण हो रहा है।

आजकल वृद्ध माता–पिता की मृत्यु के समय न संतान रहती है और ना ही उसके मृत्योपरांत दाह संस्कार के लिए आना भी मुमकिन हो गया है। संतान को भारत आने तक मार्चुअरी में शव को रखना पड़ता है। यह क धार्मिक विश्वास है कि सूर्यास्त से पूर्व दाह संस्कार होना चाहिए। यदि एक रात गुजर जाती है, तो उसे बाँसी शव कहने की रिवाज है। माता–पिता को जीते जी सुखी न रख पानेवाली संतान मरने के पश्चात् भी उनकी आत्मा को सुख देने में असमर्थ हो रही है। इसी उपन्यास के सिद्धार्थ अपने वृद्ध पिता की अकस्मात मृत्यु की खबर सुनने पर भारत तुरंत लौटकर अंतिम संस्कार करने के विचार के बजाय पिता के पार्थिव शरीर को मुर्दाघर में रखने की सलाह देते हुए कहता है– "आप मुर्दाघर में रखवा दीजिए। यहाँ तो महीनों बॉडी मार्च्यूरी में राखी रहती है। जब बच्चों को फुर्सत होती है फ्यूनरल कर देते हैं।"[2] सिद्धार्थ के इन शब्दों में गिरते मानव मूल्य की चरम सीमा झलकती है ।

चित्रा मुद्गल के 'गिलिगडु' उपन्यास में वृद्ध की देखभाल में घर के

सदस्यों के द्वारा दिखाये जानेवाली निर्लिप्त भावना का चित्रण ही नहीं किया गया है अपितु संपत्ति के लिए वृद्धाश्रम में भेजने की करुण कथा को भी चित्रित किया गया है। रिटायर्ड सिविल इंजीनियर बाबू जसवंत सिंह को अपने बेटे के घर में समय पर खाना नहीं मिलता है और चाय के वक्त बचे सीले बिस्किट्स दिए जाते थे। उन्हें इस विषय पर बड़ा दुख होता है कि बहू सुनयना के लिए उनके पेट से बेहतर रद्दी की टोकरी दूसरा कोई नहीं हो सकता। बाद में उनको यह पता चलता है कि कानपूरवाले उनके घर को बेचकर उन्हें वृद्धाश्रम में भर्ती करवाने का विचार अपने बेटा और बेटी दोनों मिलकर करते हैं। बाबू जसवंत सिंह की बेटी शालिनी अपने भाई के निर्णय के बारे में पिता से कहती है – "उन्होंने पता लगाया है कि नोएडा के सेक्टर पचपन में कोई आनंद निकेतन वृद्धाश्रम है, क्यों न उनके रहने की व्यवस्था वहीं कर दी जाए।"[3] तो उनका दिल टूट जाता है।

वृद्धावस्था में जब पति की मृत्यु हो जाती है, तो वृद्ध विधवा नारी अपने स्वजनों के आसपास रहकर किसी न किसी तरह जीवन यापन कर लेती है। जबकि वृद्ध विधुर की स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। निर्मल वर्मा के 'अंतिम अरण्य' उपन्यास के मेहरा साहब इसी अवस्था में मृत्यु की इंतजार में बैठे रहते हैं और अपने को अकेलेपन में खो जाना चाहते हैं। जब डॉक्टर सिंह, मेहरा साहब की जांच करने आते हैं, तो वह धीमे स्वर में बुदबुदाते हैं कि 'कितनी बार कहा है मुझे अकेले छोड़ दीजिए। मुझ पर मेहरबानी कीजिए। लीव मी एलोन, प्लीज. .. प्लीज.... प्लीज...'[4]

चंद वृद्ध विधुर मजबूरीवश अपने अकेलेपन से मुक्त होने के लिए किसी एक नारी के सांगत्य में रहना हैं चाहते हैं। वे पुनर्विवाह करने में अकेलेपन की समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं। रवींद्र वर्मा के 'पत्थर ऊपर पानी' उपन्यास के 75 साल के रामचंद्र का भी ऐसा वृद्ध हैं जो अपने हृदय की रिक्तता को भरना चहते हैं। वे बीच सड़क में अपने ही पुत्र द्वारा छोड़ी गई वृद्ध विधवा सीता देवी से साथ रहने का प्रस्ताव रखते हैं कि– 'हम शादी कर लें?', 'साथ रहने की क्या कोई उम्र होती है जब तक उम्र है हम साथ रह सकते हैं?'[5] कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' उपन्यास का ईशान भी अपने अकेलेपन से मुक्त होने के लिए अविवाहिता वृद्धा आरण्या को अपने फ्लैट में जगह देना चाहते हैं कि "आरण्या, जो कहने जा रहा हूँ उसे हँसी में मत उड़ाना। अगर मैं यह कहूँ कि एक कमरा, एटैच बाथरूम–एक बालकनी तुम्हारे लिए मेरे फ्लैट में ही मौजूद है।"[6] अंत में आरण्या भी उसे स्वीकार कर लेती है।

पत्नी की मृत्यु के बाद वानप्रस्थ के रूप में चंद वृद्ध लोग अपने परिवारवालों से अलग रहना चाहते हैं। भले ही वह उसका नाम वानप्रस्थ दें, लेकिन उसमें भी उन्हें नौकर, पड़ोसी मित्रों की सहायता की जरूरत पड़ती है। रमेशचंद्र शाह के 'सफेद पर्दे पर' उपन्यास के वृद्ध मेहरा खुद सोचते हैं 'अच्छा वानप्रस्त है यह तुम्हारा, जिसमें तुम्हें एक ओर दत्ता संपत्ति का सहारा चाहिए और दूसरी ओर रामरतिया का।'[7] कुछ साधन युक्त वरिष्ठ लोग सोचते हैं कि किसी एक गैर

सरकारी संस्था की स्थापना करके या उसमें शामिल होकर समाज के कल्याणकारी कार्यों में जुड़कर व्यस्त हो जाएं, ताकि वे सकारात्मक और सार्थक जीवन यापन कर सकें। इसी उपन्यास के रिटायर्ड आई.ए.एस. अधिकारी सप्रे साहब अपने बूढ़े मित्र मेहरा से कहते हैं कि "देखो, मैं एक एन.जी.ओ. स्टार्ट करने वाला हूँ, जो अपने ढंग का अनूठा होगा। ऑस्ट्रेलिया की एक संस्था मुझे इसके लिए खासा आर्थिक अनुदान मुहैया कराने को तैयार है।"[8] उस एन.जी.ओ. के प्रस्तावित कार्यक्रमों के बारे में वे आगे कहते हैं कि "हमारे प्रोजेक्ट में वैकल्पिक शिक्षा, पानी जुटाने के पारंपरिक तरीकों के पुनरुद्धार और नए तरीकों की खोज तो मुख्य रूप से है ही, साथ में योग और विपश्यना के सघन प्रशिक्षण शिविर चलाने की योजना भी शामिल है।"[9] और इस प्रोजेक्ट के कार्यान्वयन में पूर्ण रूप से वे तुले रहते हैं। इसी प्रकार गोविंद मिश्र के 'शाम की झिलमिल' उपन्यास का बूढ़ा अरविंद आध्यात्मिक विषय को लेकर चलने वाले एक संस्थान में सांस्कृतिक कार्यक्रमों को आयोजित करने वाली समिति से जुड़ जाते हैं। वहां के औपचारिक और स्वार्थपूर्ण कार्यशैली व कार्यक्रमों को देखकर एकदम ऊब जाते हैं। धीरे–धीरे अपने को ऐसे संस्थानों से बचाकर रखते हैं।

समाज में अपनी शान बढ़ाने के चक्कर में और बच्चों का अच्छा भविष्य बनाने के उद्देश्य से मां–बाप अपनी सारी जमा पूंजी को लगाकर और जरूरत पड़ने पर कर्ज भी लेकर उच्च शिक्षा के लिए अपने बच्चों को विदेश भेजते हैं। उनका एकमात्र अपेक्षा रहती है कि वे वहां पढ़कर स्वदेश लौटें और अच्छी नौकरी पाकर वृद्ध मां–बाप की सेवा करें या कम से कम उनके साथ रहें। लेकिन प्रायः उनकी आशा में पानी फिर जाता है और वे मन मसोसकर रहने में विवश हो जाते हैं। डॉ सूरज सिंह नेगी के 'वसीयत' उपन्यास के सेवा निवृत्त विश्वनाथ भी मां–बाप को भूल जानेवाले अपने बेटे राजकुमार के बारे में अपनी पत्नी सुधा से कहते हैं– "शादी मनपसंद कर ली तो बहू से आशीर्वाद लेने तो हमारे पास लाता। क्या सचमुच विदेशी शिक्षा पाकर वह अपनी संस्कार ही भूल चुका है?'[10]

धन की लालच में चरित्रहीन बनते जाने वाले पुत्र के व्यवहार से वृद्ध मां–बाप का हृदय विदीर्ण हो जाता है। 'गिलिगडु' उपन्यास के रिटायर्ड कर्नल स्वामी का बड़ा बेटा श्री नारायण अपने पिता के सामने प्रस्ताव रखता है कि वे नोएडा के चार कमरे वाले बड़े फ्लैट को बेचने पर जो रकम मिलती है उसे तीनों भाइयों को बांट दें। जब कर्नल स्वामी उसे ठुकरा देते हैं, तो कृद्ध नारायण अपने ही वृद्ध पिता के ऊपर हाथ उठाता है। उनके रोने चीखने की आवाज सुनकर उनके पड़ोसी मित्र श्रीवास्तव दंपत्ति का दिल दहल उठता है। बाबू जसवंत सिंह से आर्द्र स्वर में मिसेज श्रीवास्तव कहती हैं– `ेसी कसाई औलाद से आदमी निपूता भला। हमें इस बात का कोई गम नहीं कि हमारी कोई अपनी औलाद नहीं।'[11]

इस प्रकार पैतृक संपत्ति के मोह में पड़कर हिंसक बननेवाली युवा पीढ़ी को असली संपत्ति का बोध कराता है डॉ सूरज सिंह नेगी का वसीयत उपन्यास। इस उपन्यास का विश्वनाथ अपने सेवा काल की भाग दौड़ भरी जिंदगी में बूढ़े

मां–बाप की उपेक्षा करता आता है। यहां तक कि जब अपनी बूढ़ी मां का स्वास्थ्य बिगड़ की खबर मिलती है, तो वह उसकी परवाह किए बिना ट्रेनिंग के लिए विदेश चला जाता है। मां–बाप की मृत्यु के बाद अपने पिता द्वारा लिखी गई वसीयत विश्वनाथ को मिलती है, तो वह यह सोचता है कि कोई विशेष संपत्ति मिलने जा रही है। लेकिन, उसमें यह लिखा होता है कि– 'मेरे पुरखों द्वारा आजन्म परोपकार, परहित, त्याग, समर्पण और सत्य का पालन करते हुए संस्कार, जीवन मूल्य तथा सिद्धांतों के साथ जीवन–यापन किया गया जिनका अनुसरण मैंने अपने संपूर्ण जीवन काल में किया। यही मेरी असल कमाई है जिसे मैं आज अपने विश्वा के नाम वसीयत के रूप में समर्पित करता हूँ।'[12]

इस प्रकार, इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में उपन्यासकारों ने न केवल वृद्धजनों के दयनीय जीवन का चित्रण हुआ है बल्कि उनके समाधान का भी दिशा निर्देश वसीयत जैसे उपन्यासों के द्वारा दिया है।

———————

संदर्भ सूची –

1) पृ. सं. 40, ममता कालिया, 'दौड़', वाणी प्रकाशन
2) पृ. सं. 80, ममता कालिया, 'दौड़', वाणी प्रकाशन
3) पृ. सं. 97, चित्रा मुद्गल, गिलिगडू, सामयिक प्रकाशन
4) पृ. सं. 129, निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य, वाणी प्रकाशन
5) पृ. सं. 26, रवींद्र वर्मा, पत्थर ऊपर पानी, वाणी प्रकाशन
6) पृ. सं. 147, कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल प्रकाशन
7) पृ. सं. 89, रमेशचंद्र शाह, सफेद परदे पर, किताबघर प्रकाशन
8) पृ. सं. 42, रमेशचंद्र शाह, सफेद परदे पर, किताबघर प्रकाशन
9) पृ. सं. 42, रमेशचंद्र शाह, सफेद परदे पर, किताबघर प्रकाशन
10) पृ. सं. 45, सूरज सिंह नेगी, वसीयत, साहित्यागार
11) पृ. सं. 138, चित्रा मुद्गल, गिलिगडू, सामयिक प्रकाशन
12) पृ. सं. 213, सूरज सिंह नेगी, वसीयत, साहित्याकार

■

बुंदेली लोक साहित्य के विविध आयाम

डॉ. ज्योति गौतम *

बुंदेली लोकसाहित्य, मध्य भारत के बुंदेलखंड क्षेत्र की जीवंत सांस्कृतिक परंपरा का दर्पण है। इसमें जनजीवन, मान्यताएँ, रीति–रिवाज, संघर्ष और सांस्कृतिक धरोहर का समावेश मिलता है। यह शोध पत्र बुंदेली लोकसाहित्य के विविध पक्षों जैसे लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकविश्वास, स्त्री विमर्श और सामाजिक चेतना को केन्द्र में रखकर विश्लेषण करता है। शोध का उद्देश्य इस क्षेत्रीय साहित्य की मौलिकता, सामाजिक योगदान एवं आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता को सामने लाना है।

कुंजी शब्द : बुंदेली लोकसाहित्य, लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, स्त्री विमर्श, संस्कृति, जनजीवन।

प्रस्तावना : भारत विविधताओं का देश है, और इसकी भाषिक–सांस्कृतिक विविधता लोकसाहित्य में प्रतिबिंबित होती है। बुंदेली लोकसाहित्य, बुंदेलखंड क्षेत्र की भावनात्मक, सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करता है। यहाँ के गीतों, कहानियों और लोकनाट्यों में जनजीवन के संघर्ष, आशा, विश्वास और सामाजिक व्यवस्था की झलक मिलती है। इस साहित्य की मूलभूत विशेषता इसकी मौलिकता, सहजता और जनमानस से जुड़ाव है।

भारत विविध भाषाओं, संस्कृतियों और परंपराओं का देश है, जहाँ प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है। इसी कड़ी में बुंदेलखंड क्षेत्र का लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी है। बुंदेली लोकसाहित्य न केवल जनमानस की भावनाओं, विचारों और विश्वासों का प्रतिबिंब है, बल्कि यह समाज की सामूहिक चेतना, अनुभव और सांस्कृतिक धरोहर को भी अभिव्यक्त करता है। इसमें लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, धार्मिक आख्यान, रीति–रिवाज, मान्यताएँ और जनश्रुतियाँ सम्मिलित हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से संरक्षित होती आई हैं।

बुंदेली लोकसाहित्य में जनजीवन के विविध पहलुओं का अत्यंत सहज, मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण मिलता है। चाहे वह कृषि से जुड़ी मान्यताएँ हों, स्त्री की भावनाएँ हों, या सामाजिक अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना–इन

***संपर्क** – सहायक प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

सभी पक्षों को लोकगीतों और लोककथाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है। लोकनाट्य और नौटंकी जैसी विधाओं ने इसे और भी जनप्रिय बनाया है। आज के वैश्वीकरण और आधुनिकता की दौड़ में लोकसाहित्य हाशिये पर जा रहा है। ऐसे समय में इसका अध्ययन न केवल अकादमिक दृष्टिकोण से, बल्कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से भी आवश्यक हो गया है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य बुंदेली लोकसाहित्य के विविध आयामों का विश्लेषण कर उसकी महत्ता, सामाजिक प्रभाव और संरक्षण की आवश्यकता को रेखांकित करना है, जिससे भविष्य की पीढ़ियाँ भी इस अद्वितीय धरोहर से परिचित हो सकें।

भारतवर्ष एक विशाल और विविधतापूर्ण सांस्कृतिक परंपरा वाला देश है, जहाँ प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट भाषा, रीति–रिवाज, लोक विश्वास और साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हीं विविधताओं से मिलकर भारतीय संस्कृति की समग्रता का निर्माण होता है। भारतीय लोकसाहित्य, जो कि विभिन्न क्षेत्रों की जनसंस्कृति का सजीव दस्तावेज है, मौखिक परंपराओं के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी संचित होता आया है। यह साहित्य उस जनसमूह की आत्मा को अभिव्यक्त करता है, जो लिखित साहित्य से दूर रहा, लेकिन जिसकी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ और जीवन–दृष्टि अत्यंत गहरी और व्यापक रही हैं। ऐसी ही एक विशिष्ट लोकसांस्कृतिक विरासत बुंदेलखंड क्षेत्र में विकसित हुई है, जिसे हम बुंदेली लोकसाहित्य के नाम से जानते हैं।

बुंदेली लोकसाहित्य, मध्य भारत के बुंदेलखंड क्षेत्र की जीवंत सांस्कृतिक परंपरा का दर्पण है। इसमें जनजीवन, मान्यताएँ, रीति–रिवाज, संघर्ष और सांस्कृतिक धरोहर का समावेश मिलता है। यह शोध पत्र बुंदेली लोकसाहित्य के विविध पक्षों जैसे लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकविश्वास, स्त्री विमर्श और सामाजिक चेतना को केन्द्र में रखकर विश्लेषण करता है। शोध का उद्देश्य इस क्षेत्रीय साहित्य की मौलिकता, सामाजिक योगदान एवं आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता को सामने लाना है।

बुंदेलखंड, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा पर स्थित एक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसकी अपनी स्वतंत्र बोली, बुंदेली, और अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है। बुंदेली लोकसाहित्य इस क्षेत्र की जनजीवन, संघर्ष, आशा, प्रेम, सामाजिक संबंध, धार्मिक आस्था तथा लोकविश्वासों का गहन चित्र प्रस्तुत करता है। यहाँ के लोकगीतों में जहाँ स्त्री की पीड़ा और विरह की भावना की गूंज है, वहीं 'अल्हा' जैसे वीरगाथा गीतों में शौर्य और बलिदान का अद्वितीय उदाहरण देखने को मिलता है। 'गारी', 'फाग', 'बिरहा',

'कजरी', 'जाचर' आदि लोकगीतों में इस क्षेत्र की सांस्कृतिक विविधता और लोकजीवन की झाँकी प्रस्तुत होती है।

बुंदेली लोककथाएँ, लोकनाट्य, देवी–देवताओं की कथाएँ, लोकमान्यताएँ, और त्योहारों से जुड़ी परंपराएँ, सभी मिलकर इस क्षेत्र के साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वरूप को गहराई प्रदान करते हैं। विशेषकर बुंदेली लोकनाट्य परंपराएँ जैसे 'नौटंकी', 'स्वांग', और 'रासलीला' लोकजन के मनोरंजन के साथ–साथ शिक्षण और सामाजिक जागरूकता का माध्यम भी बनती रही हैं। इन लोकनाट्यों में सामाजिक समस्याओं, स्त्री उत्पीड़न, वर्ग संघर्ष, नैतिकता और धार्मिकता जैसे गहन विषयों को सरल और रोचक शैली में प्रस्तुत किया जाता है।

बुंदेली लोकसाहित्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष इसका स्त्री विमर्श भी है। लोकगीतों में विवाह, विदाई, सास–बहू के संबंध, परदेश गए पति की प्रतीक्षा और स्त्री की भावनात्मक पीड़ा को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह साहित्य स्त्री की सामाजिक स्थिति, संघर्ष और उसकी आत्मा की पुकार को अभिव्यक्त करता है। साथ ही इसमें लोक स्त्रियों की विद्रोही चेतना और अस्मिता का स्वर भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

आज के यांत्रिक युग में जहाँ समाज पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकृष्ट हो रहा है, वहाँ लोकसाहित्य का संरक्षण और उसका गहन अध्ययन और विश्लेषण अत्यंत आवश्यक हो गया है। लोकसाहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक बदलाव, सांस्कृतिक चेतना और सामूहिक स्मृति का सशक्त माध्यम है। विशेषकर बुंदेली लोकसाहित्य के अध्ययन से हम उस समाज की अंतरात्मा तक पहुँच सकते हैं, जो सदियों से उपेक्षित, परंतु जीवंत रहा है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य बुंदेली लोकसाहित्य के विविध पक्षों का गहन अध्ययन करते हुए उसकी विशेषताओं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक योगदान, तथा समकालीन संदर्भों में उसकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करना है। यह शोध बुंदेली लोकजीवन की जड़ों तक जाकर न केवल साहित्यिक तथ्यों को उजागर करेगा, बल्कि यह भी बताएगा कि किस प्रकार यह लोकसाहित्य आज भी हमारी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखने में सहायक हो सकता है।

बुंदेली लोकगीतों का विश्लेषण : बुंदेलखंड क्षेत्र की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम उसके लोकगीत हैं। बुंदेली लोकगीत जनमानस की अनुभूतियों, परंपराओं, भावनाओं और जीवन–दृष्टि का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन गीतों में न केवल व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ और अनुभव समाहित होते हैं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक यथार्थ भी प्रतिबिंबित होता है। बुंदेली लोकगीत विविध अवसरों और परिस्थितियों में गाए जाते हैंकृजन्म से लेकर मृत्यु तक, पर्वों से लेकर श्रम और कृषि कार्यों तक।

1. **ऋतु और कृषि से जुड़े लोकगीत** : बुंदेलखंड की कृषि प्रधान संस्कृति में कृषि संबंधी लोकगीतों की प्रमुखता है। वर्षा के समय गाए जाने वाले बरखा गीत, रोपाई और कटाई के गीत, किसानों की भावनाओं को उजागर करते हैं। इन गीतों में प्रकृति के साथ किसान के आत्मीय संबंध, कड़ी मेहनत, ईश्वर से

प्रार्थना और उत्सव की भावना परिलक्षित होती है।

उदाहरण–

'हे गोबर धन धरती माई,
रोपे बिना न पेट भराई...'

2. **तीज–त्योहारों के गीत** : बुंदेली संस्कृति में हरियाली तीज, करवा चौथ, होली, दीपावली, फागुन, आदि पर्वों पर विशेष लोकगीत गाए जाते हैं। फाग गीत, विशेषकर ब्रज और बुंदेलखंड की सीमा पर बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्रेम, हास्य और श्रृंगार रस की प्रधानता होती है।

'फागुन के दिन आयो, रसीले राग सुनायो,
राधा–कृष्ण झूले बिरज में, रंग गुलाल लुटायो...'

3. **विवाह और सामाजिक रीति–रिवाजों के गीत** : गारी, बन्ना–बन्नी, विदाई गीत, सोहर, सगाई गीत जैसे लोकगीत विवाह के विभिन्न चरणों में गाए जाते हैं। गारी गीतों में हास्य–विनोद होता है, तो विदाई गीतों में करुणा और स्त्री की पीड़ा की अभिव्यक्ति।

'बाबुल मोरी चिट्ठी भेजो, ससुराल मोहे भाए न...'

4. **वीर रस और शौर्यगीत** : बुंदेली लोकसाहित्य में वीरता की अद्वितीय मिसाल अल्हा गीत हैं, जिनमें अल्हा और ऊदल जैसे वीरों की गाथाएँ वर्णित हैं। ये गीत न केवल वीर रस का संचार करते हैं, बल्कि जनमानस में साहस, देशभक्ति और आत्मगौरव की भावना का संचार भी करते हैं।

'सुनो रे वीरों की कथा, अल्हा ऊदल नाम सदा,
बुंदेलों की धरती पर लड़े जो शेर समान!'

5. **स्त्री विमर्श और लोकगीत** : बुंदेली लोकगीतों में स्त्री की भावनाओं को अत्यंत संवेदनशीलता और सजीवता से प्रस्तुत किया गया है। पति की प्रतीक्षा, सास–बहू का संबंध, परदेशी पति, स्त्री की पीड़ा और समाज की अपेक्षाएँ इन गीतों में गहराई से अभिव्यक्त होती हैं।

'परदेस गयो मोरा सजनवा, बिरहा सहा न जाए...'

6. **धार्मिक और आध्यात्मिक गीत** : भजन, कीर्तन, देवी गीत, राम–सीता, कृष्ण–राधा संबंधी गीतों में भक्ति रस की प्रधानता होती है। ये गीत मंदिरों, जागरणों और धार्मिक अनुष्ठानों में गाए जाते हैं।

विशेषताएँ–

1. मौलिकता एवं सरलता – बुंदेली लोकगीत अत्यंत सहज, भावनात्मक और जनमानस की भाषा में रचित होते हैं।
2. सामूहिकता – अधिकांश गीत सामूहिक रूप से गाए जाते हैं, जो सामाजिक एकता को प्रकट करते हैं।
3. संवेदनात्मक गहराई– ये गीत सीधे हृदय से निकलते हैं और हृदय तक पहुँचते हैं।
4. प्रकृति और जीवन का संगम– लोकगीतों में प्रकृति, ऋतुचक्र, पशु–पक्षी, और

मानव जीवन का आत्मीय संबंध दर्शाया गया है।

बुंदेली लोकगीत केवल मनोरंजन या रस–प्राप्ति के साधन नहीं हैं, बल्कि ये बुंदेलखंड की सांस्कृतिक चेतना के वाहक हैं। इनमें जनजीवन की वास्तविकता, लोक मानस की आकांक्षाएँ, संघर्ष, उत्सव, पीड़ा और आत्मगौरव समाहित है। आज जब लोकसाहित्य विलुप्ति की ओर बढ़ रहा है, तब इन गीतों का संरक्षण, दस्तावेजीकरण और नवप्रस्तुति अत्यंत आवश्यक है। बुंदेली लोकगीत भारतीय लोकधरोहर का अनमोल हिस्सा हैं, जिन्हें संरक्षित कर अगली पीढ़ी तक पहुँचाना हमारी सांस्कृतिक जिम्मेदारी है।

बुंदेली लोकसाहित्य के विविध आयाम

1. लोकगीत

बुंदेलखंड के लोकगीत सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श करते हैं– जन्म, विवाह, तीज–त्योहार, कृषि कार्य, युद्ध आदि। प्रमुख लोकगीतों में 'फाग', 'गारी', 'अल्हा', 'कजरिया', 'बिरहा' प्रमुख हैं।

उदाहरण–

"अल्हा ऊदल की गाथा" वीर रस में रचित है, जो युद्ध की वीरता और साहस को प्रदर्शित करता है।

2. लोककथाएँ और दंतकथाएँ

बुंदेली लोककथाएँ समाज की नैतिकता, धर्म, नीति और जनविश्वासों का चित्रण करती हैं।

जैसे– राजा हरिश्चंद्र, ढोला–मारू, रानी दुर्गावती की कथाएँ।

3. लोकनाट्य एवं नाट्य परंपराएँ

'नौटंकी', 'स्वांग', 'रासलीला', और 'अल्हा–उदल का मंचन' बुंदेलखंड की प्रमुख नाट्य शैलियाँ हैं। ये नाट्य–शैलियाँ मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक शिक्षा का कार्य करती हैं।

4. धार्मिक एवं सांस्कृतिक विश्वास

बुंदेली लोकसाहित्य में लोक देवी–देवताओं, भूत–प्रेत, पनौती और देवी–पूजन की मान्यताएँ प्रमुख हैं। 'काली मैया', 'जागरण', और 'लोक–भजन' इनमें सम्मिलित हैं।

5. स्त्री विमर्श

बुंदेली लोकगीतों और कथाओं में स्त्री की पीड़ा, संघर्ष, प्रेम, वियोग और सामाजिक स्थिति का मार्मिक चित्रण मिलता है। विवाह गीतों और विरह गीतों में स्त्री की भावनाओं की सजीव अभिव्यक्ति होती है।

6. कृषि और प्रकृति परक साहित्य

कृषि से संबंधित गीत, जैसे रोपाई गीत, कटाई गीत, वर्षा की प्रार्थनाएँकृये सब प्रकृति और मानव के संबंध को दर्शाते हैं।

7. लोकभाषा की विशेषताएँ

बुंदेली भाषा की विशिष्टता इसकी सहजता, अलंकारिकता और स्थानीयता

में है। इसमें संस्कृत, प्राकृत और खड़ी बोली के शब्दों का समावेश मिलता है। बुंदेली लोक साहित्य की प्रासंगिकता

आज के वैश्वीकरण और तकनीकी विकास के युग में लोकसाहित्य की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो गई है। यह हमारी पहचान, संस्कृति और परंपराओं को सुरक्षित रखने का कार्य करता है।

चुनौतियाँ एवं संरक्षण की आवश्यकता

1. बुंदेली लोकसाहित्य आज विलुप्ति के कगार पर है। इसके संरक्षण हेतु निम्न प्रयास आवश्यक हैंरू
2. लोक कलाकारों को मंच एवं आर्थिक सहायता
3. शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में शामिल करना
4. शोध एवं प्रलेखन को बढ़ावा देना
5. डिजिटल माध्यमों का प्रयोग

निष्कर्ष:–

बुंदेली लोकसाहित्य बुंदेलखंड की आत्मा है। इसके विविध आयाम न केवल सांस्कृतिक धरोहर हैं, बल्कि सामाजिक संरचना को समझने का सशक्त माध्यम भी हैं। आधुनिक युग में इसकी प्रासंगिकता को स्वीकारते हुए संरक्षण और संवर्धन आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची (References)

1. त्रिपाठी, श्यामसुंदर– बुंदेली लोकसाहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।
2. श्रीवास्तव, रामगोपाल– भारतीय लोक साहित्य और संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन।
3. पांडेय, दामोदर– लोक साहित्य के स्वरूप और संदर्भ, राधाकृष्ण प्रकाशन।
4. मिश्रा, रमाकांत– बुंदेलखंड की सांस्कृतिक विरासत, साहित्य भवन, झाँसी।
5. Sharma, D.P.: Folklore of Bundelkhand, National Folklore Journal, 2018-
6. IGNCA (Indira Gandhi National Centre for the Arts) – Folk Art Archives-

■

बलराम के कथा साहित्य में ग्रामीण संवेदना

भाग्यश्री श्रीकान्त कोलकंठे *

बलराम के कथा साहित्य ग्रामीण जीवन की समस्याओं पर चित्रित है। बलराम की कहानी विच्छेदन और गांव पर केंद्रित है, जहां एक विजडीत यथार्थ सदियों से कायम है, तो उनके लघु कथाएं इतिहास और समय पर केन्द्रित है, जिनमे कही लेखकीय भावुकता नहीं है। मनुष्य के आंतरिक तनावों का स्पेस भरा है। इनकी चिंताए इन दोनों क्षेत्रों को परिवेश में मनुष्य के रेशे के सिलसिले को बचाने के लिए परेशान है। बलराम शुरू से ही अपने परिवेश के प्रवक्ता की भूमिका में अपने को नियुक्त कर रचनास्त है। उनके भाषिक अवदान की पढ़ाई यहीं से शुरू होती है।

बलराम व्यक्ति से ऊपर उठकर लिखने वाले रचनाकार हैं। इसीलिए उनके सामने अपनी पहचान का संकट नहीं है। अपनी मिट्टी से जुड़े रहना ही इनकी पहचान है। आज के समाज में एक संवेदनशील और निष्ठावान व्यक्ति के रूप में इसी ही लेखक का खरापन कहते हैं। वह अपने को समय और समाज से विस्थापित नहीं मानता, बिल्क खुद की भागीदारी सुनिश्चित करता है। एक लेखक की खांटी रचनाशीलता इसी रूप में रेखांकित होती है। लेखक बलराम की कथा साहित्य समाज की अभिव्यक्ति का दपर्ण है। उनका कहानी संग्रही 'कलम हुए हाथ', 'गोवा में तुम' यह कहानी संग्रह अति चचिर्त कहानी संग्रह है। दोनों कहानी संग्रह में कुल मिलाकर 30 कहानी है। कहानी में सामाजिक राजनीति के आर्थिक आदि समस्याओं का चित्रण हमें दिखाई देता है। कहानी में दांपत्य जीवन, घरेलू राजकरण, दुखद प्रसंग, आदिमानव या संवेदनाओं पर आधारित कहानियां है। लघुकथाएं यह विद्या अति चर्चित है। उनकी कथा साहित्य में घटित घटनाओं पर आधारित और यथार्थ झलकता हुआ दिखाई देता है।

बीज शब्द : ग्रामीण, किसान, आथिर्क, शोषण, सामाजिक,

प्रस्तावना – बलराम का गांव अपनी कलात्मक सहजता के साथ हिंदी कथा का नया विस्तार है। हम प्रेमचंद के गांव से निकाल कर रेणु के गांव होते हुए आज बलराम के गांव में आ पहुंचे हैं। इनकी कहानी उन्हें अणुओं–परमाणुओं

***संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, के टी एच एम महाविद्यालय, नाशिक सावित्रीबाई फुले विद्यापीठ, पुणे, महाराष्ट्र

से निर्मित है, जिससे इनके जनपद के गांव निर्मित है। बलराम जैसा मौलिक गांव आज के किसी भी कथाकार के पास नहीं है। गांव तो था ही, एक इतिहास समय भी चल ही रहा था, लेकिन कथा में कृषि के रूप में ऐतिहासिक दृष्टि के साथ ऐसा गांव पहले नहीं आया था। बलराम का गांव अब सब का गांव हो गया है। किसान दिमाग में पूरी तरह से पूंजीवादी प्रभाव के प्रवेश की सूचना, हरी और घीसू की हर की नियति, समान टीवी लगाओ की कलात्मक मूर्त्तता बलराम के जनपदीय गांवों से ही पहली बार मिली है। पूरा हिंदुस्तान इन्हीं गांवों में इसी रूप में आत्महत्या कर रहा है। वहां 'निजी पूंजीवाद' हावी है। यही बलराम के कथा 'लोक का प्रिज्म' है।

उनकी कहानी संग्रह 'कलम हुए हाथ' की ज्यादातर कहानियों में विभिन्न रंगों की आभा में इसे देख सकते हैं। वे गांव को सिर्फ उनकी कुरुपता में हीं नहीं दिखाते, उनमें एक नए बचपन की उदय का सपना भी है, जो सर्वथा पूंजीवादी है, लेकिन लड़के अब लड़ाकू भी हो रहे हैं। यही क्रिया पाठक के साथ संवाद का रूप ले लेती है। यही इनके भीतर मौजूद 'संपूर्ण रचनाकार' की जीवन तांत्रिक प्रवृत्तियों की पहचान है। इसके बाद ही आंतरिक संघर्ष का जन्म होता है, जो बाहरी बदलाव को बताता है। प्रेमचंद ने बदलते हुए गांव और मनुष्य को देखा था, पर गांव और मनुष्य वही का वही अपने अंतर्विरोधों में और भी कुरुप हुआ है, विपन्न और अकेला भी। बलराम इसी सक्रिय–असक्रिय मनुष्य और गांव को बोलते बतियाते परिवेश के चितेरे है। इन्होंने इसी कुरूप इतिहास समय का चुनाव किया है। बलराम की कथाओं का यथार्थ इसी कुरुपता के इर्द–गिर्द चमकता है।

कथाकार बलराम के पहले कहानी संग्रह 'कलम हुए हाथ' की 'शिक्षाकाल', 'पालनहारे' और 'कलम हुए हाथ' जैसी कहानियों से साफ है कि उन्होंने अपनी दृष्टि संम्पन्नता से परिवेश के बीच अपने अनुभवों को, गांव में पले–बढ़े, बालक, किशोर, युवक की मानसिकता को देश और समाज में व्याप्त समस्याओं से जोड़कर देखा है। यही संवेदनशील बालक प्राय पारिवारिक जनों के प्रेम से वंचित होने पर भी, क्लास में अव्वल आने के कारण समझदारी से लोगों का दिल जीतना चाहता है, परिस्थितियों में बदलाव लाने के प्रति सचेत है, लेकिन ताकतवर शक्तियां निरंतर उसे चुप रह जाने को मजबूर कर देती है। कामरेड कल्ला के सपनों से जुड़कर वह कुछ होते हुए देखना चाहता है, लेकिन मालिक के मित्रों द्वारा उसकी जुबान को जनता तक नहीं पहुंचने दिया जाता। कभी यह मालिक पिता के रूप में उभरता है, कभी बड़े भाई और कभी अखबार के मालिक के रूप में। बलराम की कहानियां इसी तरह के मालिकों के सामने चुप कर गए ये लोगों कद्द छटपटाहट से उत्पन्न होती है, जहां व्यक्ति चुप रहने को मजबूर होते हुए भी श्रमिकों, नागरिकों, शिक्षा जैसे वेश्या बनायी गयी लड़कियों की गलाजत भरी जिंदगी के लिए जिम्मेदार लोगों को बेनकाब करता है।

बलराम की कहीनयों के नायक हेमू, मदन और शंकर गांव से लेकर शहरों तक व्याप्त विसंगतियों के शिकार होते हुए भी उनसे जूझते हुए, भले ही इनमें उन्हें निराशा हाथ लगे। गरीबी शोषण अन्य के खिलाफ चलते संघर्ष में आगे बढ़कर

नेतृत्व संभालने वाले चंद्रावती और माधौ बापू की सम्भावनाएं, इस निराशा से बचने के बेहतर विकल्प तो ही हैं, भले ही बहुत क्षीण। फिलहाल हिंदी कहानी में गांव और शहर के प्रश्न और प्रासंगिक हो गए हैं और मुख्य प्रश्न यथार्थ और उनके कलात्मक अभिव्यिक्त पर केन्द्रित हो गए है। शोषक और शोषित के बीच उत्पन्न राजनीतिक संघर्ष भी कहानी में व्यक्त हो रहा है, केवल नारेबाजी और फैशन की लोकप्रियता के रूप में उसे प्रतिष्ठा मिलन मुश्किल है। यह संघर्ष अधिकांशतः तटस्थ रिपोर्टिंग के रूप में ही उभर रहा है। बलराम की कहानी 'कामरेड का सपना' इस तरह के खतरे से मुक्त नहीं है। यही वजह है कि उनकी वही कहानियां विश्वसनीय और महत्वपूर्ण बनी है जिसमें वह असली जमीन पर खड़े हैं। 'शिक्षाकाल' और 'पालनहारे' के मदन और हेमू का परिवेश औसत गरीब ग्रामीण परिवार का यथार्थ है। बचपन और किशोरावस्था में प्रचलित भूत–प्रेत कथाओं का इन कहानियों में बेहतर उपयोग हुआ है। लम्बरदार के कर्ज की अदायगी में हेमू के प्रिय मेमना कसाई को बेच दिया जाना, मदन के वजीफे के रूपयों को हड़पने की भाई की हरकत दोनों को निरीह बनाकर छोड़ जाती है।

'कलम हुए हाथ' गरीबी की जमीनें हड़प जाने वाली राजा ठाकुर के शिकार माधौ बापू के विभाजित परिवार की त्रासदी की कथा है। खुशहाली से फटेहाली तक अंततः यह परिवार औसत भारतीय किसान परिवार की नियति है। जिसमें अब सरकारी कर्ज का बोझ और लटक गया है।

कामरेड कला का संघर्ष भी जल्दी किन्हीं परिणामों तक नहीं पहुंच रहा, खासकर जब सत्ता पक्ष सरकारी मशीनरी के भ्रष्टाचार की गिरफ्त कसती जा रही है। 'गिद्ध और गिद्ध' का यथार्थ मुंह बाय सामने खड़ा हो तो उससे बचने का चारा या तो उसका भक्ष्य बन जाता है या बेईमानी के ईमानदारी के स्थान पर स्वीकार कर लेना, लेकिन वह दोनों को नहीं मानता, यही कहानी की साथर्कता है। बलराम की कहानी संक्रमण की इसी संधि से जुड़ी है। रचनात्मक जीवन के बारे में प्रारंभ में भावुकता और किशोर प्रेम प्रायः रचनाकारों पर हावी रहते हैं। इसी से एकदम मुक्त हो जाना परिपक्वता की अनिवार्य शर्त नही है, लेकिन इसमें समझदारी का आ जाना रचना को आवेश पूर्ण काल्पनिक फिल्मी अंत से बचा लेना है।

बलराम की 'अनचाहे सफर' इसी तरह की कहानी है, जहां नायक और नायिका में से कोई एक अचानक समझदारी की भूमिका निभाते हुए प्रेम विवाह का जोखिम नहीं उठाना चाहता। संस्कारों की टकराहट से बचना ही इन्हें बेहतर लगता है। बलराम की इन कहानियों यथार्थ परिवेश की सूक्ष्म जानकारी से उपजा होने के कारण उनके लिए कहानी कुछ फॉर्मूलों–सूत्रों में सीमित नहीं है। यही वजह है कि बलराम कहानी निरंतर विकास की स्थिति में है।

'इलाज कहानी जी यथार्थ का उद्घाटन करती है, वहां वास्तव में आज सर्वत्र अपना मानवीय शिकंजा कश रहा है। राजस्थान में गत वर्ष धौलपुर एवं भारतपुर जिलें में कई गांव में पैसे कमाने की अंधी दौड़ के कारण निःसहाय गरीबों की आंखें फोड़ दी गयी। निरंतर पैसा खर्च करके भी डॉक्टरों द्वारा उपेक्षा और मनमाने ढंग से पैसा कमाने की लंबी होड़ ने जिस प्रकार जन जीवन को ध्वस्त

कर दिया है, वह 'निंदनीय और घृणित हैं डॉक्टरी उपेक्षा का शिकार वह अपने हाथ में लगे गलत इंजेक्शन से भयभीत होकर सोचता हैः 'और तब मुझे अपने गांव के राधे की याद आ गयी। भरा–पूरा जवान था राधे। राधे मर गया 'ऐसा ही कुछ वह सोचता है, मौत की भैया वह छाया में घिरकर। डॉक्टरों की इस अमानवीय प्रवृत्ति पर आज तक रोक नहीं लगी। डॉक्टरों जैसे पवित्र और समाज सेवी धंधे में व्याप्त यह स्थिति निश्चित ही बुरी है। कहानीकार अमानवीयकरण की ओर तीक्ष्णता और सुनता से हमारा ध्यान खींचता है, जिससे कहानी के अंत में पाठक स्वयं घृणा से भर उठता है।

निष्कर्ष–

आज का लेखक जो होना चाहिए, उसके विपरित जीवन के समक्ष चल रही अराजकता के विस्तार को चुपचाप बर्दाश्त कर है। यहां पर बलराम की सजगता आकृष्ट करती है। अपनी इस भूमिका मे बलराम एक संस्था हो गए है। संस्था होना ही आज के अराजकता बोध को अस्वीकार कर एक सहेतुक दृष्टि का ज्ञानोदय है। नमक के तीर की तरह कथाओं के स्वरूप अर्थ और विकास को इस दिशा में बलराम एक नया आयाम दे रहे हैं। इनका होना भरोसा जगता है कि जिंदगी और समय को समझा और जिया जा सकता है।

इसको संवेदनायुक्त बनाने का नया 'स्पेक्ट्रम' गढ़ा जा सकता है। ऐसा कहना मानवी और सामाजिक बोध की संपत्ति कहलाता है। इस संपत्ति के बिना किसी के कलाकार होने का का कोई प्रयोजन ही नहीं होता। यही कहानी के नये विचार संगठन और उसके स्वीकार्यता दिलाने के बिंदु पर हमें बलराम खड़े मिलते हैं। यह कोई अचानक निकला या निकाला गया निष्कर्ष नहीं है। बलराम हमें खींचते हैं क्योंकि उनकी चिंता है देश और अंततः दुनिया के फलक पर प्रतिष्ठित हैं।

संदर्भ सूची–

1. 'बलराम एक शिनाख्त', लेखक–बलराम प्रकाशक–प्रलेक प्रकाशन प्रा. लि. संस्करण– अगस्त 2021 ,पृ.क्र.102
2. 'बलराम एक शिनाख्त', लेखक–बलराम प्रकाशक–प्रलेक प्रकाशन प्रा. लि. संस्करण– अगस्त 2021 ,पृ.क्र.103
3. वही, पृ.क्र.103
4. वही, पृ.क्र.110
5. वही, पृ.क्र.111
6. कलम हुए हाथ , लेखक –बलराम,
7. प्रकाशक–भावना प्रकाशन, संस्करण – 2012 पृ.क्र. 50
8. वही,पृ.क्र. 35
9. 'कथा कहे बलराम', लेखक–बलराम, प्रकाशक– भावना प्रकाशन ,संस्करण–2019 पृ.क्र.133

■

राकेश रंजन की कविताओं में लोक मर्म

कुमारी कंचन सिंह *

इक्कीसवीं सदी के आरंभ के साथ नवीनतम पीढ़ी के जिन कवियों ने हिंदी काव्य के क्षितिज पर अपनी गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण उपास्थिति दर्ज की है, उनमें राकेश रंजन अपनी लोक–संपृक्ति, छंद–चेतना एवं युग–बोध के कारण अलग से रेखांकित किये जाते हैं। उनके तीन कविता संग्रह 'अभी–अभी जनमा है कवि', 'चाँद में अटकी पतंग' एवं 'दिव्य कैदखाने में', एक उपन्यास 'मल्लू मठफोड़वा' तथा एक आलोचना पुस्तक 'रचना और रचनाकार' प्रकाशित हैं। वे 2006 के विद्यापति पुरस्कार तथा 2009 के हेमंत स्मृति कविता सम्मान से सम्मानित हो चुके हैं। उनकी कविताओं पर हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक नामवर सिंह ने कहा है– "यह कवि शब्दों से खेलता है। शब्दों से रघुवीर सहाय भी खेलते थे। राकेश रंजन के खेलने में एक बाल–सुलभ उमंग है। वह खाली तुकों में ही नहीं, अंदाज में भी दिखाई पड़ती है। इनकी कविता में समाज की धड़कन सुनाई पड़ती है"।[1] उन्होंने विभिन्न रसो में रचनाएँ की हैं लेकिन उनमें शृंगार रस, शान्त रस और वात्सल्य रस की प्रचुरता है। उनकी कविताओं पर देश काल और परिस्थिति का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। उनकी कविताओं में छूटती और बदलती हुई चीजों के प्रति उनकी चिंता, आक्रोश और संवेदना दिखाई देती है। आधुनिक युग में रहकर भी लोक के प्रति लगाव और जुड़ाव उनको और कवियों से अलग पहचान दिलाता है।

राकेश रंजन इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होने अपनी कविताओं में समाज देश व काल के साथ लोक–तत्त्व को भी स्थान दिया है और साथ हीं ये प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में गाँव की सोंधी मिट्टी के प्रति आत्मिक लगाव रखते हैं। शहरी और ग्रामीण लोक जीवन से इनका गहरा जुड़ाव है। आम जन जीवन का सुखद व दुखद दोनों पक्ष इनकी कविताओं में दिखाई देता है। सामाजिक संरचनाओं में व्याप्त जातीय एवं नस्लीय विसंगतियों पर चोट कर मोहब्बत और अमन का पैगाम दिया है–

"रहमतों को रौंद कर ये जुल्मतें रह जाएँगी।

*संपर्क : द्वारा–श्री सुरेश कुमार, ग्राम+पो॰– सिसवा बाजार, पूर्वी चंपारण–845422, मो॰–9110061193, ईमेल– kanchan1997c2@gmail.com

गर मुहब्बत छोड़ दोगे नफरतें रह जाएँगी।।"[2]

इनकी कविताओं में संस्कारगत रीति–रिवाज, परंपरागत लोक–विश्वास, रूढियां, प्राकृतिक सौंदर्य और मिट्टी की सोंधी–सोंधी खुसबू दिखायी देती है। हिंदी और उर्दू भाषा पर समान अधिकार रखने वाले कवि राकेश रंजन ने लोक को जिया है और आत्मसात भी किया है। इनकी कवितायें लोक की भावनावों, जीवन की अनुभूतियों और समाज की समस्याओं को अभिव्यक्त करती है। इनकी अधिकतर कविताएँ सीधे और सरल भाषा में लोक मर्म को व्यक्त करती है। इस प्रकार इनकी कविताएँ लोगों को अपने समाज के प्रश्नों, समस्याओं, समाधानों और अनुभवों के साथ जोड़ती है तथा उन्हें सोचने, समझने और संवाद करने के लिए प्रेरित करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है' निबंध में लिखते हैं– "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ–संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर

> इक्कीसवीं सदी के आरंभ के साथ नवीनतम पीढ़ी के जिन कवियों ने हिंदी काव्य के क्षितिज पर अपनी गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण उपास्थिति दर्ज की है, उनमें राकेश रंजन अपनी लोक–संपृक्ति, छंद–चेतना एवं युग–बोध के कारण अलग से रेखांकित किये जाते हैं। उनके तीन कविता संग्रह 'अभी–अभी जनमा है कवि', 'चाँद में अटकी पतंग' एवं 'दिव्य कैदखाने में', एक उपन्यास 'मल्लू मठफोड़वा' तथा एक आलोचना पुस्तक 'रचना और रचनाकार' प्रकाशित हैं। वे 2006 के विद्यापति पुरस्कार तथा 2009 के हेमंत स्मृति कविता सम्मान से सम्मानित हो चुके हैं। उनकी कविताओं पर हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक नामवर सिंह ने कहा है– "यह कवि शब्दों से खेलता है। शब्दों से रघुवीर सहाय भी खेलते थे। राकेश रंजन के खेलने में एक बाल–सुलभ उमंग है। वह खाली तुकों में ही नहीं, अंदाज में भी दिखाई पड़ती है। इनकी कविता में समाज की धड़कन सुनाई पड़ती है"।[1]

लोक–सामान्य भाव–भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरुप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक–सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है।"[3] जैसा कि राकेश रंजन की कविताओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है तथा साथ हीं इनकी कविताओं में बहुतायत मात्रा में लोक–मर्म दिखाई देता

हैद्य जैसे– खेतिहर मजदुर, किसान, गरीब, दमित–कुंठित लोक समाज की पीड़ा, समाज के विभिन्न वर्गों, समूहों और विभिन्न तबको की वेदना दिखाई देती है। साथ हीं खेतिहर मजदुर और शहरी क्षेत्र में कार्यरत मजदूरों का चिंतन भी है। इनकी कविताओं में गरीबी, बदहाली, सामाजिक विसमताओं के प्रति व्याकुलता भी दिखाई देती है।

"खेती में जब मूर बुड़ाया/बाबा हुए बिगड़कर डंटा/सो मैं शहर कमाने आया/लेकर अपना झोरा–झंटा/यहाँ रात–दिन गात गलाया/पाया बस धोखा बस टंटा/यही समझ लो रामलुभाया/खोया सकल कमाया घंटा"[4]।

इन्होने गरीबों, मजदूरों एवं किसानों की परिस्थिति और वेदना के बीचो–बीच लक्ष्मण रेखा खींचने का एक सफल प्रयास किया है ताकि उनके दुःख–दर्द स्पष्ट दृष्टिगोचर हो–

"हर ओर कालिमा का सैलाब बरसता है/भादों के आसमां से बेताब बरसता है/बुझते हुए दियों से खूनाब बरसता है/हर ख्वाब जल गया है तेजाब बरसता है"[5]

'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' की धारणा से परिचित ये कवि अपने लोक को जीते हैं और उसे करीब से देखकर अभिव्यक्त भी करते हैं। राकेश रंजन ने लोक भाषा में रचनाएँ की हैं उनकी भाषा की शिष्टता विशिष्ट है। इनकी कविताएँ सरल, सहज शब्दों के माध्यम से जीवन जगत की सच्चाई से हमारा साक्षात्कार कराती है तो कभी मिथकों के माध्यम से समाज का असली चेहरा भी दिखाने का सफल प्रयास करती है। इनकी कवितओं में समाज के सभी आयामों और मानव जीवन के सभी रसों को स्थान मिला है तथा इनकी कविताओं में लयबद्धता और तारतम्यता भी दिखाई देती है। साथ ही लोक समाज में स्त्रियों की स्थिति को रेखांकित करने का सफल प्रयास है। भारतीय लोक समाज में घरेलू महिलाएं हमेशा से उपेक्षित और तिरस्कृत होती रही है। उनके ऊपर पारिवारिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परम्पराएं, मूल्य तथा रीति–रिवाज का बोझ हमेशा से रहा है। वे घर की चारदीवारी के बीच घुटन महसुस करती हैं। सुबह से शाम तक घरेलू कार्य एवं परिवार की सेवा में अपना पूरा समय बिता देती है। उन्हें मनोरंजन का पर्याप्त साधन नहीं मिल पाता है। कवि उन महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता का परिचय देते हैं। जो द्रष्टव्य है–

"पत्नी बोली' भाग्य हमारा जला हुआ है/करिखा ही भाल पर हमारे मला हुआ है/बीते कितने बरस, कहीं भी नहीं घुमाया/सोने जैसा समय धूर में व्यर्थ गँवाया/मेला, ठेला, मॉल, सिनेमा, खेल, तमाशा/सबकुछ सबके लिए हमारे लिए निराशा/समय ब्याह के तुम्हें परीछ हमारी माई/कितनी खुश थी, लोर बहाती थी हरसाई/हमें कहा था' महादेव दिखते दूल्हे में/और आज! हम यहाँ सती होतीं चूल्हे में!"[6]

अस्तु समकालीन हिंदी कविता के अन्य कवियों की तरह राकेश रंजन की

कविताओं में श्रम की महत्ता असंदिग्ध है। इनकी कविताओं में सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। विस्मृत हो रही संस्कृति को लेकर कवि के मन में काफी क्षोभ है। "अजब धीरे–धीरे, गजब धीरे–धीरे। बदलता है दुनिया में सब धीरे–धीरे।।"[7] हर जगह की संस्कृति, वहाँ के परिवेश के अनुसार होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को आसानी से आत्मसात कर लेता है। लेकिन इक्कीसवीं सदी में वैश्वीकरण ने तेजी से पाँव पसारा है, जिसका परिणाम है कि सारा विश्व एक बाजार बन गया है। कोई जगह किस चीज के लिये प्रसिद्ध है पता करना बहुत मुश्किल हो गया है। जिसके कारण हमारी लोक संस्कृति पर खतरे मंडरा रहे हैं।

सिलौट कूटने वाले निपुण लोक–कलाकार हमारी लोक–संस्कृति के परिचायक हैं। इनके द्वारा पत्थर कूटने पर सुनाई देने वाली संगीतमय गूंज हमें अंदर से आह्लादित कर देती थी। पत्थर पर फूल उकेरने की कला, मछलियों को पत्थर पर तैराने की कला में पारंगत सिलौट कूटने वालों का हमारे बीच से चले जाना चिंता का विषय है। मिक्सर मशीन के आने से अब सिलौट की उपयोगिता कम हो गयी है लेकिन इसका महत्व अभी भी कम नहीं हुआ है। आज भी सिलौट शादी–विवाह के अवसर पर पित्तर नेवतने के काम आता है। लोक मान्यता के अनुसार आंधी–पानी को इससे दबा दिया जाता है। दूसरी चीज विवाह में स्त्रियां लोढ़े से दूल्हे के सिर के चारों तरफ घुमाकर परिछावन करती हैं। हमारे बीच से इनका जाना हमारी लोक–संपदा अथवा धरोहर का जाना है। इन सबका हमारे जीवन से लुप्त होना हमारी सांस्कृतिक और पारंपरिक विरासत का दरिद्र होना है, हमारे सामाजिक जीवन से एक व्यापक अनुभव–संसार का चुपचाप चले जाना है। यह अत्यंत चिंता का विषय है। इन चिंताओं के आलोक में 'सिलौट कूटने वाले' कविता की निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं।

"कहाँ चले गए/सिलौट कुटनेवाले?/उनकी छेनियाँ, हथौडियाँ/कहाँ चली गईं/जो दिशाओं में/बजती थीं ठाँय–ठाँय/सिरजती थीं अग्निकण?/हम कैसे भूल गए/पत्थर की छाती कूटकर/संगीत/रचने की वह कला?/अफसोस, मेरे बच्चे/तुम नहीं देख पाओगे/पत्थर पर खिले पुष्पगुच्छ/और पत्थर पर/तैरती मछलियाँ!"[8]

भूमंडलीकरण के इस दौर में सूचना–प्रौधोगिकी की और बाजारवाद का सामना करते हुए कवि की संपूर्ण कविता का स्वर लोकोन्मुखी है। कृषि में मशीनीकरण होने के पश्चात पारंपरिक खेती के लिए उपयोग में लाये जाने वाले बैल की उपयोगिता वर्तमान समय में प्रासंगिक नहीं है। कवि लोक की दुहाई देते हुए लिखते हैं आज बैल की उपयोगिता खेती के लिए नहीं है जो कभी समाज के पोषक हुआ करते थे, न जाने कितने सदियों से लोगों के लिए अन्न उत्पादन कर जीवन दाता बना रहाद्य परन्तु आज के समय उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। बाजारवाद एवं मशीनीकरण की इस आंधी में वे निरही बुचडखाने तक

पहुँच गए हैं। इस कविता में कवि ने लोक संस्कृति की विस्मृति, जानवरों के प्रति असहानुभूती, हिंसा, बाजारवाद का विस्तार एवं मशीनीकरण के प्रति गहरी संवेदना प्रकट किया है। साथ ही लोक के गर्भ से उसकी विकराल समस्याओं का अवलोकन कर उसे उजागर किया है। जो इन्हें एक ससक्त लोक कवि के रूप में पहचान दिलाता है।

"उन्हें ले जाया गया/बूचड़खाने की ओर/फिर भी/वे कुछ नहीं बोले/अगर बोल पाते वे/बैल क्यों कहाते वे?"[9]

प्रकृति और लोक एक दूसरे के करीब होने के कारण इनकी कविताओं में लोक प्रेम और प्रकृति प्रेम की प्रचुरता दिखाई देती है। इन्होंने अपनी कविताओं में जटिलता की जगह सरलता को स्थान दिया है। प्राकृतिक सौंदर्य में जो लोक का दर्शन मिलता है इन्हें सामान्य कवियों की श्रेणी से ऊपर उठाकर प्रकृति और लोक कवि के रूप में पहचान दिलाती है। इन्होंने प्रकृति के गोद के विभिन्न रूपों, प्राकृतिक सौंदर्य और रहस्य का सुंदर चित्रण किया है। जो अपने कविता के माध्यम से एक नया सौंदर्य स्थापित करती करती है। कवि सुमित्रानंदन पंत कहते हैं कि भारतमाता ग्रामवासिनी है अर्थात भारतमाता की आत्मा गाँव में निवास है। ठीक उसी प्रकार इनकी कविताएं ग्रामीण जीवन से ओतप्रोत है। इनकी कविताओं में सहजता, सरलता, मधुरता एवं लोक व्याप्त है। इनकी इन 'जंगल और खरगोश', 'खिरनी के प्यार में', 'हमीं', 'तुम्हें कहाँ देखा', 'कवि और मेमना', 'अब कहीं मेरी जगह नहीं', 'उचट–उचट जाती है नींद', 'तुम्हारे गाँव की पगडंडियाँ', 'इस वसन्त में' आदि कविताओं में ग्रामीण जीवन, प्रकृति चित्रण, लोकसंस्कृति और लोक–मर्म विस्तृत रूप में दिखाई देता है।

"नीरव इस रात में/न पत्तों की सरसर न पंखों की फड़फड़/न कुत्तों की भूंक न मवेशियों की हँकार/न बारिश न बिजली न पुकार/न युद्ध न प्रहार/फिर भी क्यों जाने/उचट–उचट जाती है नींद/बार–बार..."[10]

कवि ने लोक जीवन के प्रेम को बहुत हीं सरलता से प्रस्तुत किया है उनके प्रेम में कोई बनावटीपन नहीं है वह जिस परिवेश में रहते हैं उसका बहुत ही सरसता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें लोक जीवन से जुड़ी हुई बिम्ब का प्रयोग हुआ है जो हमें लोक धरातल से जोड़ती है। प्रत्येक पाठक संवेदनात्मक, भावात्मक, प्रेरणात्मक और सृजनात्मक रूप से इसमें तल्लीन हो जाता है। इनकी कविताओं में परकीया प्रेम का एक छीटा भी दिखाई नहीं देता है।

"हाँ–हाँ, इसी तरह/तेल–मसाले/और साबुन–सर्फ की गन्ध में डूबी सही/हाथ में बुहारनी है तो क्या/उसे लिए ही आओ/बैठो मेरे पास/पोंछ दूँ पसीना तुम्हारे चेहरे का/साफ कर दूँ धूल–सने होंठ"[11]

इनकी कविताओं में लोकजीवन को प्रभावित करने वाली लोक प्रचलित शब्दों की बहुलता दिखाई देती है। जो इनको लोक कवि की ख्याति दिलाती है। बहुआयामी प्रतिभा के धनी कवि ने अनेक रसों एवं विधाओं में रचना किया हैद्य

इनकी कविताओं में प्राकृतिक प्रदत्त वस्तुओं के दोहन की चिंता है। वस्तुतः सतत विकास की अवधारणा प्राकृतिक संसाधनों के बुद्धिमतापूर्ण उपयोग से है, ताकि अगली पीढ़ी को स्वच्छ एवं समृद्ध पर्यावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों को सौंपा जा सके। कवि प्रकृति के प्रति गहरा जुड़ाव रखते हैं। इस जुड़ाव का ही परिणाम है यह कविता–

"हमीं दफना जाएँग / सारे खेत / और बाग / साडी फसलों, जंगलों को / हमीं लगा जायेंगे आग"[12]

कवि ने "गुरुबानी" के माध्यम से लोक जीवन का निकटतम साक्षात्कार कराया है। इसमें लोक जीवन का सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया गया है। ग्रामीण जीवन में तम्बाकू के सेवन एवं महत्व को बड़ी ही सजीवता से दिखाने का सफल प्रयास किया गया है। खैनी–चूना हमारी लोक परम्परा का महत्वपूर्ण हिस्सा है। आज भी गाँव में शादी–विवाह के समय अतिथि की अगुवाई में 'डाला' में खैनी–चूना, पान–सुपारी इत्यादि भेजने का पुराना चलन है जो हमारी लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। कविता में तंबाकू की तीव्र तलब के आगे भगत मन व्याकुल होकर सिमरन पथ से विचलित हो जाता है। तंबाकू के प्रति लोक में चाह, उत्साह, मेलजोल एवं व्याप्त नशा की प्रवृत्ति का वास्तविक चित्र दृष्टिगोचर करता है।

लोक में व्याप्त व्यसन की प्रवृत्ति के कारण भगत को 'खैनी–चूना' अर्चना के लिए उपयोग में लाई जाने वाली सामग्री से भी अधिक महत्व की वस्तु के रूप में दिखाई देता है, जो लोक जीवन का सही उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'राम–नाम से जी उचटे है जबसे डिबिया खतम भई' भक्ति के मार्ग से विचलन और कार्य में हुए अवरोध, मन में व्याप्त आकुलता से स्पष्ट है कि तंबाकू लोक की जीवन रेखा के रूप में प्रतीत होता दिखाई देता है। अतः उपर्युक्त कविता लोक जीवन की सामाजिक संरचना में व्याप्त तंबाकू के प्रयोग एवं प्रभाव से प्रेरित व्यंग के रूप में लिखी गयी हैं

"खैनी–चूना बिन दुख दूना / सब जग सूना लागे है / मैं तो मैं ना ही हूँ, बचवा! / तू भी तू ना लागे है। / राम–नाम से जी उचटे है / जबसे डिबिया खतम भई / आकुल मनवाँ सिमरन–पथ से / किधरो–किधरो भागे है"[13]।

एक लोक कवि के रूप में अपने कौशल का प्रयोग कर आम जनमानस की हृदय कि गहराई में उतर कर उसके आंतरिक प्रेम, विरह, पीड़ा, दया, वेदना एवं वास्तविक मनोभाव को यथावत कागज पर उतारने की कला की सिद्धि एक लोक कवि को प्राप्त होती है। सारंगिये कविता में कवि लोक जीवन में निहित 'लोक–मर्म' एवं 'लोक कथा' की बेहतरीन प्रस्तुति करता है। इसमें निहित करुण हृदयस्पर्शी गीत, विरह–वेदना और दर्द–पीड़ा को जगा देता है। समाज–परिवार से विरक्ति के पश्चात वैराग धारण करने वाले पुत्रों की माँ तुम्हारी ये कारुणिक गान सुन नहीं पातीं हैं। सन्यास से सती हुई भारतीय स्त्रियों का हृदय विकल विछोह भरे गीत से तार–तार हो जाता है। तुम्हारे ये गीत सुनकर वे सभी

बिलख–बिलख कर रोती है। 'हरजाई सारंगी बजाते हो तो लगता है कटार से चीरते हो अपना कलेजा' सारंगिये जो तुमने त्याग दिया घर–संसार, बैराग की आग से स्वाहा कर दिया अपना परिवार–समाज। क्या तुम्हें याद नहीं आती तुम्हारे मां का आंचल जिसमें मिला था तुमको सहस्त्रों दुलार, अपनी प्रिया का मधुर स्नेह, प्रेम जिसका पूर्णतः अवसान हो चुका है। सारंगिये तुम्हारे इंतजार में कितनी माताओं के आंखों से अश्रु सुख चुके हैं।

"हरजाई/सारंगी बजाते हो/तो लगता है/कटार से चीरते हो अपना कलेजा/मत गाओ ऐसा गान/जिससे फूटता है रुदन/मत लो ऐसा आलाप/जो उठता है/विलाप की तरह/जाओ सारंगिये/मेरा सोया हुआ विरह/मत जगाओ सारंगिये!"[14]

निष्कर्षतः यह कहना समीचीन है, कि इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता के कवि राकेश रंजन ने अपने समय को पूरे परिवेश के साथ प्रस्तुत किया है। इन्होंने जो लोक की कविता रची है उसमें लोक जीवन की जो आभा है वह कविता पाठ करते समय ज्यामितीय अनुपात में बढ़ जाती है और बढ़ जाता है कविता पर भरोसा। लोक साहित्य जिस समय उपेक्षा, बाजारवाद, वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण से उपजे निरादर से जूझ रहा है, उस समय यह लोक कविता आशा का दीप जलाए रखने की बात कानों में फुसफुसाती है।

"भादों की रात में/खोए हैं सारे/चाँद/और तारे.../तब तक ये जुगनू/रास्ता दिखाएँगे!"[15]

यह लोक की गर्भ से उपजी कविताएं संवेदनात्मक झनझनाहट पैदा करती है। यह कविता उस लोक संस्कृति का आइना है जिसको इन्होंने लोक जीवन में होने वाली सामान्य जन–जीवन का सूक्ष्मता से अवलोकन और आत्मसात कर जीया है। साथ ही लोक मूल्यों को संरक्षित करते हुए उन्हें सुरक्षित रखने के लिए प्रतिबद्ध है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने लोकोन्मुखी चेतना और अनुभूतियों के स्तर पर राकेश रंजन लोक के काफी समीप हैं। उनकी कविताओं में लोक को बचाने की जो चिंता है वह उनकी कविता की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द में इस तरह व्याप्त है कि लोक–जीवन, मानवीयता और लोक कल्याण प्रलक्षित होता दिखाई देता है। प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने लोक जीवन के बिम्ब सिरजें हैं। उनकी कविताओं में निहित चिन्ह, प्रतीक और शब्द मनुष्य जैसा व्यवहार करती है। नदी, झरने, घोंघा, सियार, कुत्ता, सारंगी, पतझड़, बगुला, पत्ते आदि इनकी कविता के सहचर है। इनकी कविताओं में निर्जीव वस्तुओं में भी प्राण स्थापित है। इन वस्तुओं के प्रति कवि की सुक्ष्म दृष्टि है, यह उसका सौन्दर्य बोध भी है और लोकोन्मुखी चेतना भी है। अतः राकेश रंजन की कविताओं में लोक संस्कृति एवं लोक–मर्म विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर है।

संदर्भ :

1 सिंह, नामवर, चाँद में अटकी पतंग–राकेश रंजन, नयी दिल्ली, प्रकाशन

संस्थान, प्रथम संस्करण, 2009, मुद्रित, ब्लर्ब के फ्लैप से उद्धृत।

2 रंजन, राकेश, 'रविवार की तुकबंदी' शीर्षक रचना, फेसबुक पर 18 फरवरी, 2024 को प्रकाशित।

3 शुक्ल, रामचन्द्र, 'कविता क्या है?' शीर्षक निबंध, चिंतामणि, भाग–1, नयी दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, पेपरबैक संस्करण, 2012, मुद्रित, पृ.सं., 107

4 रंजन, राकेश, 'दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहली आवृत्ति, 2022, मुद्रित, पृ.सं., 71

5 रंजन, राकेश, श्सरफूनामाश शीर्षक कविता, पक्षधर–34, जनवरी–जून, 2023, सं–विनोद तिवारी, नयी दिल्ली, मुद्रित, पृ.सं., 182

6 रंजन, राकेश, 'मानो घर के गिर्द मौत देती हो पहरा' शीर्षक कविता, फेसबुक पर 19 सितंबर, 2022 को प्रकाशित।

7 रंजन, राकेश, 'अप्रैल की तुकबंदी' शीर्षक रचना, फेसबुक पर 6 अप्रैल, 2024 को प्रकाशित।

8 रंजन, राकेश, 'दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहली आवृत्ति, 2022, मुद्रित, पृ.सं., 49

9 रंजन, राकेश, 'चाँद में अटकी पतंग', नयी दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण, 2009, मुद्रित, पृ.सं., 131

10 रंजन, राकेश, 'दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहली आवृत्ति, 2022, मुद्रित, पृ.सं., 35

11 रंजन, राकेश, 'दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहली आवृत्ति, 2022, मुद्रित, पृ.सं., 86

12 रंजन, 'राकेश, दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहली आवृत्ति, 2022, मुद्रित, पृ.सं., 57

13 रंजन, राकेश, 'अभी–अभी जनमा है कवि', नयी दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण, 2007, मुद्रित, पृ.सं., 28

14 रंजन, राकेश, 'सारंगिये' शीर्षक कविता, फेसबुक पर 8 फरवरी, 2024 को प्रकाशित। प्रसिद्ध अभिनेता द्वारा किया गया लाइव पाठ 30 जून, 2024 को यूट्यूब पर 'राकेश रंजन–सारंगिये' शीर्षक से प्रसारित।

15 रंजन, राकेश, 'दिव्य कैदखाने में', दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट

■

भारतवर्ष का
आदिधर्म रहा है आजीवक

– कैलाश दहिया *

बंग संवत १३४० (विक्रम संवत १९९०) यानी साल १९३३ ईस्वी में प्रोफेसर प्रबोध चन्द्र सेन ने बांग्ला भाषा में एक लंबा निबंध लिखा। इस निबंध का शीर्षक था 'बंगाल का आदिधर्म'। इसी नाम से साल १९५८ में इस पुस्तक का हिंदी में अनुवाद छपा। हिंदी अनुवाद पंडित श्री हीरालाल जी दूगड़ जैन (मुनि) ने किया। सवाल यह है, श्री सेन को यह निबंध लिखने की जरूरत क्यों पड़ी? इसी से जुड़ा अगला सवाल यह है कि उनके पास यह 'आदि धर्म' शब्द आया कहाँ से? आगे बढ़ने से पहले जान लें, इस 'आदि' शब्द का मतलब क्या है और इसका धर्म से क्या संबंध है?

असल में, २०वीं सदी के दूसरे–तीसरे दशक में 'आदि' के नाम से दलित जातियों का आदि हिंदू आंदोलन चल रहा था, जिन्हें उस समय अछूत कहा जाता था। दलितों का यह आंदोलन इतना व्यापक था कि ब्राह्मण–जैन सहित सारे वर्णवादी इसके दबाव में थे। इसी दबाव का नतीजा था श्री सेन का यह निबंध। उधर, डॉ. भीमराव अम्बेडकर सब कुछ जानते–बूझते इस आंदोलन से बच कर चल रहे थे, पता नहीं क्यों? आगे बढ़ने से पहले बताया जाए, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी अपने चिंतन का निचोड़ अपनी अंतिम किताब 'भगवान बुद्ध और उनका धर्म' वर्ष १९५६ में पूरी की। जबकि, इसी सदी के तीसरे दशक में वे महारों की एक सभा में खुद्द को बौद्ध घोषित कर रहे थे। यह जानते–बुझते भी कि दलितों का धर्म को लेकर 'आदि' नाम से 'आदि हिंदू , आदि धर्म, आदि आन्ध्र, आदि द्रविड़ और आदि कर्नाटक' सहित कई अन्य नामों से पूरे भारतवर्ष में आंदोलन चल रहा है। एक तरह से डॉ. अम्बेडकर और सेन महोदय का दिमाग उस समय एक ही दिशा में काम कर रहा था। दोनों विद्वान प्राचीन भारत के इतिहास में इस देश के मूल निवासियों का धर्म–इतिहास ढूँढने में लगे थे, जिसमें श्री सेन सब कुछ जान कर भी आधा सच बता रहे थे, जबकि डॉ. अम्बेडकर पूरी तरह प्रक्षिप्त की तरफ बढ़ गए थे।

अब सवाल यह है, इन दोनों विद्वानों ने अपनी ये किताबें क्यों लिखीं? इसी से जुड़ा एक सवाल यह भी है कि दुनिया में खुद को विश्वगुरु कहने वाला और इस देश में बुद्धिजीवी होने का ढिंढोरा पीटने वाला ब्राह्मण इस समय क्या

*संपर्क– दिल्ली, मो. नं.– 7042146622

लिख–पढ़ रहा था? दरअसल, इसकी शुरुआत भारत में अँग्रेजी शासन के साथ–साथ अँग्रेजी भाषा की शिक्षा के साथ होती है। ब्रिटिश शासन में ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के रूप में आने वाले वहाँ के शिक्षित लोगों को जब तत्कालीन भारत दिखा तो उन्होंने स्पष्ट रूप से देख लिया कि भारत में ब्राह्मण और इस्लाम दो बड़े संगठित धर्म हैं। लेकिन इस देश की अधिकांश गरीब जनता किन्हीं और रीति–रिवाजों, परंपरा को मानती है और उसका चिंतन भी अलग है। तब यूरोपीय विद्वानों ने इस देश में विभिन्न धर्मों का अध्ययन प्रारंभ किया, जिसके नतीजे में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म पर विदेशी विद्वानों की अनेक पुस्तकें सामने आईं। इसी क्रम में 'आजीवक' का नाम भी पहली बार सामने आया, जिसे सभी भूला चुके थे।

विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मण धर्म को लेकर जो अध्ययन किया, उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण को चिह्नित किया है। ब्राह्मण भी तब खुद को ब्राह्मण ही कह रहा था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनती चली गईं कि ब्राह्मण ने खुद को हिंदू के रूप में बताना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, इसने इधर–उधर बिखरी जातियों को भी, जिन्हें यह शूद्र और अछूत कहता था हिंदू कहना शुरू कर दिया। लेकिन, ब्राह्मण वर्ण धर्म से अलग अछूत जातियों ने कभी खुद को हिंदू नहीं माना। ये आज भी दलित के रूप अपनी अलग पहचान लिए हुए हैं। असल में यही वह जगह है जहाँ आज भी विदेशी विद्वान असमंजस की स्थिति में हैं। वे समझ नहीं पा रहे कि अछूत किस धर्म के लोग हैं।

इसी दौरान डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'शूद्र कौन थे' लिखी, जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखादृ'मुझे बखूबी पता है कि इस देश में गैर ब्राह्मण आंदोलन चल रहा है जो शूद्रों का राजनीतिक आंदोलन भी है। यह भी सर्वविदित है कि मैं इससे संबद्ध हूँ, किंतु विश्वास है कि पाठकों को पता चलेगा कि मैंने इस पुस्तक को गैर ब्राह्मण राजनीति का स्वरूप नहीं दिया है।' यहाँ सवाल यह है कि डॉ. अम्बेडकर जिसे शूद्रों का आंदोलन बता रहे हैं, वह कौन सा आंदोलन था? क्या वह सही में शूद्रों का आंदोलन था? डॉ. अम्बेडकर उस आंदोलन से संबंधित होने के बावजूद उसे अपनी लेखनी में जगह नहीं दे रहे क्यों? क्या वह महज राजनीतिक आंदोलन था? अगर वह गैर ब्राह्मण आंदोलन था तो डॉ. अम्बेडकर उसे शूद्रों का आंदोलन कैसे बता रहे थे? साथ ही वे यह क्यों कह रहे हैं कि 'मैंने इस पुस्तक को गैर ब्राह्मण राजनीति का स्वरूप नहीं दिया है?' क्या इससे डॉ. अम्बेडकर संदेह के घेरे में नहीं आ गए हैं? फिर, जिसे डॉ. अम्बेडकर 'शूद्रों का राजनीतिक आंदोलन भी' कह रहे हैं, क्या वह शूद्रों का आंदोलन था? जब डॉ. अम्बेडकर 'राजनीतिक आंदोलन भी' कहते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वह आंदोलन केवल राजनीतिक नहीं था, बल्कि उससे बढ़ कर कुछ और था। जी हाँ, सच यही है कि राजनीति तो उस आंदोलन का एक छोटा सा अंश थी। वास्तव में वह अछूतों का धार्मिक आंदोलन था, जिसे स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' देश भर में 'आदि हिंदू' आंदोलन के नाम से चला रहे थे। सही में इस आंदोलन ने अखिल भारतीय स्वरूप धारण कर लिया था। और हाँ, डॉ. अम्बेडकर सही में

'इससे संबद्ध' थे। लेकिन उन्होंने अपने आप को इस आंदोलन से अलग कर लिया था। क्यों किया, इस पर अन्य लेख में अलग से चर्चा की जाएगी।

अपनी लेखनी में डॉ. अम्बेडकर ने 'आदि हिंदू' को जगह क्यों नहीं दी, उनके ऐसे लिखने से आप अर्थ निकालने को स्वतंत्र हैं। लेकिन, यहाँ हम जिस शब्द की बात कर रहे हैं वह है 'आदि', जिसे केंद्र में रखकर सेन महोदय ने 'बंगाल का आदि धर्म' नामक अपना लंबा लेख लिखा है। बताया जा सकता है, डॉ. अम्बेडकर जिसे शूद्रों का आंदोलन कह रहे हैं वह 'अवण्णवादी जातियों' का आंदोलन था। अवण्णवादियों को ही आज दलित कहा जा रहा है। इसी क्रम में पूछा जा सकता है, पिछले लगभग सौ सालों में शूद्रों ने कौन सा आंदोलन किया है? सौ सालों की छोड़िए, पूरे भारतीय इतिहास में शूद्रों का कोई भी आंदोलन चला हो तो बता सकते हैं। आदि हिंदू आंदोलन में जो जातियाँ बढ़–चढ़ भाग ले रही थीं उनके नाम गिनाए जा सकते हैं। इनमें चमार जाति तो सबसे आगे थी ही, चमारों के साथ–साथ गवई, बरार, धुसिया, जाटव, डाकोर, पासी, बाल्मीकि, कोरी, धोबी, अहेरवार, कुरील, धानुक, जैसवार, हेला, मेहतर, कंजर, खटिक आदि प्रमुख थीं। ये नाम आदि हिंदू आंदोलन की 'इलाहाबाद की आठवीं ऑल इंडिया आदि हिंदू–कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों के कुछ नाम उसकी रिपोर्ट से उद्धृत किए' गए हैं। पूछा जा सकता है, इनमें कौन सी जाति शूद्र है?

अब हम पुनः श्री सेन की पुस्तक पर आते हैं। पुस्तक परिचय में अनुवादक ने लेखक को 'जैनेतर विद्वान' बताया है। इन्होंने लिखा है– 'बंगाल का आदि धर्म–नामक लेख बंगाली भाषा की मासिक पत्रिका 'विचित्रा' में बंग संवत् १३४० (विक्रम संवत् १९९०) ज्येष्ठ मास के अंक पृष्ठ ६५९ से ६७३ में बंगला भाषा में प्रकाशित हुआ था। इस लेख के लेखक प्रोफेसर प्रबोध चन्द्र सेन एम.ए. बंगाली जैनेतर विद्वान हैं।' बताइए, सेन साहब जैनेतर विद्वान हैं और उन्होंने जैन धर्म को बंगाल के आदि धर्म के रूप में सिद्ध करने के लिए जोर लगा रखा है!

लेखक ने चीनी यात्री ह्वेन सांग के माध्यम से भारतवर्ष तथा बंगाल देश के धर्म संप्रदायों का विवरण देते हुए बौद्ध मंदिरों या संघाराम के साथ–साथ देव मंदिरों का जिक्र किया है। लेकिन वे इन देव मंदिरों के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं बता पाए कि वे किसके मंदिर रहे हैं। यहाँ इस पुस्तक के अनुवादक हीरालाल जी दूगड़ का कथन ध्यान देने योग्य है, अपने फुटनोट में ये लिखते हैं, 'चीनी यात्री ने अपने यात्रा विवरण में बौद्ध धर्म सिवाय अबौद्धों के मंदिरों को देव मंदिरों के नाम से संबोधित किया है। इन देव मंदिरों में जैन मंदिरों तथा पौराणिक संप्रदायों के मंदिरों का समावेश होता है।' अनुवादक ने जैन मंदिर तो लिख दिया, लेकिन पौराणिक संप्रदाय लिख कर चालाकी बरती गई है। चूँकि अनुवादक जैन विद्वान रहे हैं और अच्छे से जानते थे कि जैन और आजीवक समकालीन धर्म रहे हैं और ह्वेन सांग के आने तक आजीवक ही इस देश का सबसे प्रभावशाली और बड़ा धर्म रहा है। ये भी पौराणिक संप्रदाय लिख कर आजीवक को छुपा रहे थे।

प्रो. सेन चीनी यात्री ह्वेन सांग के विवरणों के माध्यम से 'जैन और आजीवक' ही बंगाल के आदि धर्म हैं के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। लेकिन, इस नतीजे

पर पहुँचने के लिए उन्होंने जिन बातों का सहारा लिया है, उसमें ये थोड़े उलझे दिखाई पड़ते हैं। दरअसल, ह्वेन सांग ने अपने विवरणों में वैशाली, मगध, ईरण पर्वत (मुंगेर जिला), चंपा (भागलपुर जिला), कजंगल (आधुनिक राजमहल), पौंड्रवर्धन (उत्तर बंगाल), कामरूप (आसाम के अंतर्गत गोहाटी प्रदेश), समतट (श्रीहट्ट–आधुनिक सिलहेट–त्रिपुरा आदि प्रदेश), ताम्रलिप्ति (मेदिनीपुर अंतर्गत आधुनिक तमलूक), कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद जिला), ओड्र (उड़ीसा), कंगोद (गंजाम जिला) और कलिंग (उड़ीसा के दक्षिण) सहित जिन १३ तत्कालीन राज्यों–स्थानों के बारे में जो देखा और लिखा उनमें बौद्धों के संघाराम, जैनियों के स्थल और देव मंदिरों का वर्णन है। इन देव मंदिरों को लेकर ह्वेन सांग के साथ–साथ श्री सेन भी भ्रमित हो गए कि ये देव मंदिर किनके थे। इन १३ स्थानों के बारे में बताते हुए लेखक ने हर जगह बौद्ध, निर्ग्रंथ और ब्राह्मण धर्म या धर्मावलंबी लिखा है। जो आधा–अधूरा सच ही है। ह्वेन सांग ने भी आजीवक का उल्लेख नहीं किया। और हाँ, निर्ग्रंथ उन्हें स्पष्ट नहीं हो पाया कि वे कौन थे।

इन स्थानों का जिक्र करते हुए ह्वेन सांग और लेखक ने देव मंदिरों के साथ पौराणिक ब्राह्मणधर्म का जिक्र किया है। वैशाली के बारे में ह्वेन सांग के हवाले से लेखक ने लिखा है, 'ईसा की सातवीं शताब्दी में यहाँ के वासी विशेष धर्म–परायण थे तथा बौद्ध और अबौद्ध सब एक साथ मिलजुल कर वास करते थे। यहाँ पर बौद्धों की संस्थाएँ (संघाराम मंदिर आदि) कई सौ की संख्या में थी। परंतु उस समय तीन–चार संस्थाओं के अतिरिक्त बाकी सब ध्वस्त हो चुकी थी तथा बौद्ध भिक्षुओं की संख्या भी एकदम कम थी। किंतु देव मंदिरों की अवस्था इनकी अपेक्षा अच्छी थी। और इनकी संख्या भी कम न थी। पौराणिक ब्राह्मणधर्म के बहुत संप्रदाय थे किंतु निर्ग्रंथों (अर्थात जैनों) की संख्या ही सबसे अधिक थी।' यहाँ पहला सवाल तो यही है कि लेखक ने निर्ग्रंथों के आगे ब्रैकेट में जैन क्यों लिखा है? क्या सही में सातवीं सदी में जैनों के ग्रंथ नहीं थे? क्या जैनों के सिवाय कोई और निर्ग्रंथ नहीं थे? क्या यह 'निर्ग्रंथ' निगंठ से बना है?

ऐसे ही मगध के बारे में बताया गया है, 'देव मंदिरों तथा पौराणिक ब्राह्मण धर्मावलंबियों की संख्या कम थी।' देखा जा सकता है, यहाँ देव मंदिरों और पौराणिक ब्राह्मण को अलग–अलग रखा गया है, यानी देव मंदिर किसी अन्य धर्म के लोगों के थे। अब सवाल है कि ये अन्य धर्म के लोग कौन थे? इसी तरह ऊपर बताए गए अन्य १२ स्थानों पर बौद्ध और जैनों के साथ–साथ देव मंदिरों और ब्राह्मण धर्म का ही जिक्र किया गया है। इन १३ प्रदेशों का विवरण देते हुए लेखक बताते हैं, 'धर्म संप्रदायों के इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम भाग में पूरे भारतवर्ष (तथा बंगाल) में पौराणिक हिंदू, बौद्ध और जैन तीनों संप्रदायों का एक समान प्रचार था।' यहाँ देखा जा सकता है कि लेखक कैसे 'पौराणिक ब्राह्मण' से पौराणिक हिंदू पर आ गए हैं? जाना जा सकता है यह पौराणिक हिंदू कौन सा धर्म है? असल में, यह पौराणिक ब्राह्मण ही है। पुराण इसी के लिखे ग्रंथ हैं, जिनमें रामायण–महाभारत विशेष प्रसिद्ध दिखते हैं। सवाल यह भी है कि किसी गैर ब्राह्मण को पुराणों का संदर्भ लेते देखा

है? इसमें विशेष उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण धर्म की वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही पुराणों का उल्लेख करते पाए जाते हैं। वैसे खुद इस पुस्तक के अनुवादक ने अपनी पाद् टिप्पणी में इन देव मंदिरों के बारे में लिखा है–'चीनी यात्री ने अपने यात्रा विवरण में बौद्धधर्म के सिवाय अबौद्धों के मंदिरों को देव मंदिरों के नाम से संबोधित किया है। इन देव मंदिरों में जैन मंदिरों तथा पौराणिक संप्रदायों के मंदिरों का समावेश होता है।' यहाँ पौराणिक संप्रदायों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इन्हें इन पुराने संप्रदायों में दो–चार के नाम गिनाने चाहिए थे। चूँकि ये जैन थे और आजीवक को जानते थे, तब इन्हें आजीवक देव मंदिर लिखने में हिचकना नहीं चाहिए था।

दरअसल, इन देव मंदिरों को पौराणिक मंदिर कहना ही गलत शब्दावली का प्रयोग करना है। क्योंकि, पौराणिक शब्द सीधे–सीधे ब्राह्मण धर्म और इसके पुराणों से जुड़ता है। इसलिए इन्हें पुराने मंदिर कहना ही सही प्रयोग है। इससे यह भी पता लगता है कि ये पुराने या प्राचीन भारत के मंदिर हैं। हाँ, ये किसके हैं, यह नहीं पता लगता। इससे इनकी खोज की संभावनाएँ खुली रहती हैं। वैसे, ब्राह्मण की तिकड़म है कि यह हर बात को पौराणिक बता कर अपने पाले में रखने की चाल चलता रहता है। अब लेखक के इस कथन से क्या समझा जाए जब ये लिखते हैं, 'गुप्त युग में बंगालदेश में शैव, वैष्णव आदि पौराणिक धर्मों के सिवाय वैदिक ब्राह्मण धर्म भी प्रचलित था।' इस बात का अर्थ हुआ कि शैव, वैष्णव कोई पुराने धर्म हैं जो ब्राह्मण धर्म से अलग हैं।

देव मंदिरों के संबंध में खुद श्री सेन की लिखत से भी बताया जा सकता है कि ये देव मंदिर किसके थे। इन्होंने लिखा है, 'शुंग सम्राट पुष्यमित्र (ई.पू. १८५ से १४६) के पुरोहित मगधवासी ब्राह्मण वैयाकरणिक पातंजल ने अपने सुविख्यात महाभाष्य ग्रंथ में बंगाल जनपद को आर्यावर्त से बाहर ही गिना है। (अर्थात ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक वैदिक आर्य ग्रंथों में बंग जनपद का आर्य भूमियों में उल्लेख नहीं मिलता)' लेखक आगे बताते हैं, 'अतएव यह बात निरूसंदेह है कि बंगालदेश में वैदिक आर्यधर्म ने जैन, बौद्ध और आजीवकधर्मों के बाद प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।' लेखक ने अपने निष्कर्ष में स्वीकार किया है कि 'जैन और आजीवक धर्मों को ही बंगाल के आदि धर्म स्वीकार करना होगा।' बताइए, लेखक अपने निष्कर्ष में आजीवक और जैन को जान गए हैं, लेकिन यह बताने में हिचक रहे हैं कि देव मंदिर किसके थे! हो सकता है ह्वेन सांग इस बात को समझ नहीं पाए हों, लेकिन लेखक सच को क्यों छुपा गए? जब देव मंदिर जैनियों के नहीं थे, तो निश्चित है कि वे आजीवकों के ही थे, जिन पर इनके विरोधियों अर्थात् वर्णवादियों ने कब्जे किए हैं और, जहाँ तक मंदिरों की बात है, तो बताया जा सकता है कि ये क्या होते हैं। असल में, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च–ये सब क्या हैं? ये सब संस्थाएँ हैं, जो विचार विशेष यानी धर्म विशेष के लोगों की हैं। जिनमें इनके अनुयायी एकत्रित होकर सभा–प्रार्थना करते हैं। जब भी कोई अच्छा या बुरा वक्त आता है, तब इनके लोग अपनी–अपनी संस्थाओं में एकत्रित होते हैं। वर्तमान में आजीवकों की दुर्दशा का बड़ा कारण इनका संस्था–विहीन होना ही है।

लेखक ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात लिखी है, 'ईसा की पाँचवीं शताब्दी में

उत्तर बंगाल में कोकामुख देवता के लिए एक मंदिर निर्माण किया गया था। यह कोकामुख संभवतः शिव का ही एक रूप था। यदि ऐसा हो तो इसी को बंगाल में शिवधर्म का प्रथम ऐतिहासिक प्रमाण समझकर ग्रहण करना चाहिए।' इन्होंने आगे बताया है, 'यह कहना कठिन है कि बंगालदेश में शैवधर्म ने अपना प्रभाव कैसे फैलाया था। यह धर्म भारतवर्ष का एक प्राचीन धर्म है। सिंधु देशांतरगत मोहनजोदड़ो नामक स्थान से शिवलिंग, शिवमूर्ति आदि ऐतिहासिक युग से भी पहले के अनेक शैवधर्म के प्रमाण पाए गए हैं।' इन्होंने आगे लिखा है, 'किसी किसी विद्वान का यह मत है कि बंगाल के प्राचीनतम अधिवासी अंग, बंग, पौंड्र आदि ट्राइब के जन समाज में तांत्रिक लिंगपूजा प्रचलित थी। इसी लिंग पूजा के साथ प्रागैतिहासिक शैवधर्म का योग होना कोई विचित्र बात नहीं है। यदि ऐसा ही हो तब कहना होगा कि शैवधर्म बंगाल का आदि धर्म था।' लेखक ने यहाँ बिल्कुल सही लिखा है कि शिव का संबंध हड़प्पा सभ्यता से है। हड़प्पा व्यापार का केंद्र था और सारे देश में यहाँ से सामान जाता था। ऐसे में बंगाल से तत्कालीन समय शिव मूर्ति हड़प्पा ले जाई जा सकती थी। ध्यान रहे, आज भी शिव मंदिर इस देश के कोने–कोने में पाए जाते हैं। ये यहाँ के मूल निवासियों अर्थात आदि दलितों के हैं। ये मूल निवासी ही आजीवक हैं और शिव आजीवकों के ही देवता हैं। इन्हीं आदि दलितों के लिए ही स्वामी अछूतानंद 'आदि हिंदू आंदोलन' चला रहे थे।

लेखक को ह्वेन सांग की लिखत पर टिका रहना चाहिए था। लेखक बात को उलझाते हुए लिख रहे हैं, 'ब्राह्मणधर्म संप्रदायों के संबंध में भी वह मौन सा ही है, क्योंकि किस प्रदेश में कितने देव मंदिर थे इतना ही केवल उल्लेख किया है।' बताइए, जब ह्वेन सांग ही अपने विवरण में बताने में असमर्थ हैं कि ये देव मंदिर किसके थे तब लेखक को पौराणिक हिंदू जैसी शब्दावली से बचना चाहिए था।

इन्होंने लिखा है, 'फाहियान एवं ह्वेन सांग दोनों ने ताम्रलिप्ति नगर में निवास किया था और उनमें से किसी ने भी जैन संप्रदाय के संबंध में कुछ नहीं लिखा।... ह्वेन सांग की मौनता से कोई सिद्धांत निश्चित करना उचित नहीं है एवं जिन सब स्थानों का वर्णन करते समय उसने जैनों के संबंध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया उन सब स्थानों में भी थोड़े बहुत जैन अवश्य ही थे ऐसा माना जा सकता है।' बताइए, अजीब जिद है! यहाँ बताना उचित होगा कि फाहियान और ह्वेन सांग के भारत आने के बीच लगभग २३० वर्षों का अंतर है। इस दौरान ताम्रलिप्ति (मेदिनीपुर अंतर्गत आधुनिक तमलुक) में कोई जैन नहीं था। यहाँ ह्वेन सांग ने ५० से अधिक देव मंदिर देखे थे, लेकिन वे बता नहीं पाए या मालूम नहीं था या बताना नहीं चाहते थे, कह नहीं सकते। फिर, यह कैसे मान लें कि ताम्रलिप्ति में थोड़े बहुत जैन थे? ऐसे मान लेना इतिहास को धोखा देना होता है। तब तो यह भी मान लेना चाहिए कि अकबर के समय कुछ अँग्रेज आगरा में रहते रहे होंगे। ऐसे ही इन्होंने लिखा है, 'ईसा पूर्व प्रथम (दूसरे मतानुसार द्वितीय) शताब्दी में कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तर एवं दक्षिण भारत में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था। उसकी हाथीगुफा लिपि (शिलालेख) से ज्ञात होता है कि वह जैनधर्मावलंबी था एवं जैन धर्म की उन्नति के लिए वह विशेष

प्रयत्नशील था।... इन सब प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय कलिंग राज्य जैनधर्म का प्रधान केंद्र था। अतएव जिस समय कलिंग में जैनधर्म का इतना प्राधान्य था उस समय बंगालदेश में जैनधर्म का बहुत प्रभाव था ऐसा स्वीकार करना अनुचित न होगा।' दरअसल, यह हास्यास्पद एवं अतार्किक कथन है। यह यहाँ तक है कि खारवेल जैन जरूर था, लेकिन कलिंग की प्रजा जैन नहीं थी। यह कुछ ऐसे हैं, सम्राट अशोक बौद्ध हो गए लेकिन प्रजा आजीवक ही रही। क्या मुगल शासकों के मुसलमान होने का अर्थ यह निकाला जा सकता है कि इस देश की प्रजा भी मुसलमान थी? ऐसे ही, ब्रिटिश शासन में शासक ईसाई थे, लेकिन प्रजा तो ईसाई नहीं थी। फिर, कलिंग का शासक जैन था तो बंगाल देश में जैन धर्म का प्रभाव कैसे रहा होगा, यह बात समझ से परे है। लेखक के इस कथन को यों भी समझ सकते हैं, कल को कोई पुणे शहर में ओशो रजनीश के आश्रम को देखकर कहे कि पुणे के लोग भी ओशो के धर्म अर्थात जैन ही होंगे तो इस पर माथा ही पीटा जा सकता है। किसी शासक के धर्म विशेष का होने का अर्थ यह नहीं होता कि प्रजा भी उसी धर्म को मानती होगी।

ऐसे ही एक शब्द 'निर्ग्रंथ' को अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। लेखक ने इन्हें बार–बार जैन लिखा है। ह्वेन सांग जिन्हें निर्ग्रंथ बता रहे हैं लेखक उन्हें ब्रैकेट लगा कर बार–बार जैन लिख रहे हैं, यथा, 'निर्ग्रंथ (अर्थात जैनों)', 'निर्ग्रंथ (जैन साधु)', 'निर्ग्रंथों (अर्थात जैन धर्मावलंबियों)'। यही नहीं इस पुस्तक के अनुवादक अपने फुट नोट में लिखते हैंदृ'जैन मुनि निर्ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध थे। जिसका अर्थ 'गाँठ बिना' अर्थात राग द्वेष की गाँठ के बिना का होता है।' एक अन्य फुटनोट में भी अनुवादक ने निर्ग्रंथ के बारे में लिखा है, '(जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं)' यहाँ सीधा सा सवाल है, इस बात को बार–बार क्यों बताया जा रहा है? इस बात की पुष्टि भी लेखक के इस कथन से हो जाती है, जब ये लिखते हैं, 'आजीवकों का वेश भी प्रायः निर्ग्रंथों के समान ही था।' ऐसे ही लेखक के निम्नलिखित कथन भी निर्ग्रंथों के जैन होने पर सवाल खड़े करते हैं, इन्होंने लिखा है– १. बौद्ध विरोधी संप्रदाय को कभी निर्ग्रंथ कभी आजीवक बोलकर संबोधन किया गया है...।

२. 'दिव्यावदान' ग्रंथ रचना के समय ही निर्ग्रंथों और आजीवकों की भिन्नता तृतीय पक्ष के लिए अस्पष्ट हो चुकी थी। फिर, भारी–भरकम ग्रंथ लेकर चलने वाले जैनी निर्ग्रंथ कैसे कहे जा सकते हैं? कहीं ये निर्ग्रंथ आजीवक ही तो नहीं थे, जिन्हें ह्वेन सांग ने देखा था।

जहाँ तक निर्ग्रंथ के 'गाँठ बिना' अर्थात राग द्वेष की गाँठ के बिना निगंठ होने की बात है तो मक्खलि गोसाल को मुँह भर–भर कर गालियाँ देने वालों के दिलों दिमाग में कितनी गाँठें लगी रही होंगी इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। फिर, जो लोग घर छोड़ कर भागते हैं उनकी इस गाँठ का रहस्य ही पता लग जाए तो बड़ी बात होगी। इन निगंठवादियों के बारे में खुद ओशो रजनीश ही कहते हैं– 'जैन शास्त्र गोशालाक के संबंध में बड़ी निंदा से भरे हैं। ऐसी गालियों से भरे हैं कि कभी–कभी आश्चर्य होता है कि अहिंसा को मानने वाले लोग इतनी

गालियाँ निकाल कैसे सके? करुणा, प्रेम, अहिंसा की बात करने वाले लोग इतनी क्षुद्रता पर उतर कैसे आए? गोशालाक बुरा भी रहा हो तो भी ये भले लोग इतनी गालियाँ कैसे दे सके? बुरे आदमी को भी इतनी गालियाँ देना भले आदमी का लक्षण नहीं। अगर विरोध था तो सैद्धांतिक विरोध करके पूरा कर लेते। लेकिन विरोध भावात्मक मालूम पड़ता है, सैद्धांतिक नहीं है।' तो यह चरित्र है निगंठवादियों का। इन्हें अवश्य ही अपने भगवान महावीर का समर्थन प्राप्त रहा होगा। वैसे, ओशो का यह कथन भी गलत है कि 'विरोध भावात्मक मालूम पड़ता है, सैद्धांतिक नहीं है।' यह विरोध सिद्धांत के स्तर पर ही रहा है। क्योंकि, आजीवक धर्म के संस्थापक मक्खलि गोसाल विवाह के पक्षधर थे और महावीर विवाह विरोधी। इससे चिंतन में जमीन–आसमान का अंतर आ जाता है।

यह सही है कि आज भी निर्ग्रंथ अर्थात बिना ग्रंथ के रूप में दलित, आदिवासी और पिछड़े ही इस देश में बहुसंख्यक हैं। इन्हीं का आदि या मूल धर्म आजीवक है। जैन आज भी अल्पसंख्यक हैं। और, बुद्ध को तो आज डॉ. भीमराव अम्बेडकर की वजह से जीवनदान मिला है। यह भी ध्यान देने की बात है कि डॉ. अम्बेडकर की वजह से यूपी के कुछ चमारों अर्थात आजीवकों ने बौद्ध धर्मांतरण किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि चमार बौद्ध होते हैं।

ऐसे ही एक शब्द है 'दिगंबर', आज इसे अक्सर जैन मुनियों के लिए प्रयोग किया जाता है। लेकिन श्री सेन ही लिख रहे हैं, 'दूसरे हम पहले कह चुके हैं कि दिगंबर आजीवक लोगों ने ज्योतिष के नाम से ख्याति प्राप्त की थी। जातक के प्रमाण से ज्ञात होता है कि बुद्ध के जीवित काल में ही आजीवक लोग ज्योतिष रूप में भ्रमण करते थे। दिव्यावदान के मतानुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार की राज्यसभा में पिंगलवत्स नामक आजीवक ज्योतिषी था।' लेखक ने ह्वेन सांग के हवाले से आगे बताया है– 'ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्वेन सांग के समय निर्ग्रंथों ने ही ज्योतिषी रूप में ख्याति प्राप्त की थी।' अब इस लिखत का क्या परिणाम निकलता है? इस बात से सामान्य पाठक भी बता सकता है कि निर्ग्रंथ शब्द केवल आजीवकों के लिए ही संबोधित किया जाता रहा होगा। जबकि, लेखक के इस बात से परिणाम निकल रहे हैं, 'आजीवक संप्रदाय जैन संप्रदाय में मिल गया होगा।' इस बात का अर्थ यह है कि निर्ग्रंथ ज्योतिषी आजीवक थे, जिन्हें जैनियों सहित अन्य विरोधियों ने जैन कहकर लोगों को धोखे में डाले रखा। फिर, यह भी बताया जा सकता है कि मौर्य वंश और ह्वेन सांग की लिखत के बीच में १००० सालों का अंतर है। इन हजार सालों के बाद ह्वेन सांग भी दिगंबर और निर्ग्रंथों को पहचानने में असमर्थ पा रहे हैं, लेकिन श्री सेन गलत बयानी क्यों कर रहे हैं?

दरअसल यह धारणा ही गलत है कि आजीवक संप्रदाय जैन संप्रदाय में मिल गया होगा। क्योंकि, आजीवकों के प्रबल विरोधी थे जैन। ऐसे में आजीवक कैसे जैनियों से मिल जाएँगे? दूसरे बौद्धों ने अपने विरोधियों को कभी निर्ग्रंथ तो कभी आजीवक संबोधित किया है, इसका अर्थ यह कैसे हुआ कि आजीवक और जैन एक हैं? हो सकता है बौद्ध आजीवकों को ही निर्ग्रंथ कह रहे हों। क्योंकि,

दिव्यावदान लिखे जाने तक जैन और बौद्ध अपने–अपने ग्रंथों से लद चुके थे। जबकि आजीवक अपना एकमात्र ग्रंथ 'दिशाचार' भी खो बैठे थे। एक तरह से आजीवक निर्ग्रंथ हो गए थे। यह इसलिए हुआ था क्योंकि दिशाचार की बातों को द्विजों–वर्णवादियों ने घालमेल कर के अपने अनुसार अपनी किताबों में बदलाव कर लिए थे। इसे इस बात से भी समझा जा सकता है कि मक्खलि गोसाल के 'नियति के सिद्धांत' को आज भी जैन, बौद्ध और ब्राह्मण भाग्य से जोड़कर बताते आ रहे हैं। इनकी इस तिकड़म पर आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने आज रोक लगाई है। डॉ. साहब ने नियति को इसके वास्तविक रूप में सामने ला दिया है।

लेखक का यह कथन तो और भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि 'आजीवक संप्रदाय के संबंध में जैन तथा बौद्ध साहित्य में जो कुछ विवरण प्राप्त हो उसी से हमें संतुष्ट होना होगा।' यहाँ इन्हें इस बात का तो ध्यान रखना ही चाहिए था कि ये दोनों धर्म आजीवक धर्म के विरोधी हैं। इनकी किताबों में आजीवकों के बारे में झूठ और प्रक्षिप्त ही मिलना है। ऐसे ही अगर ब्राह्मण धर्मग्रंथों को देखेंगे तो उनमें महावीर और बुद्ध का विरोध और प्रक्षिप्त ही मिलेगा। तब क्या इन्हें खुद सच के प्रमाण नहीं ढूँढ़ने चाहिए थे। वैसे, महान गोसाल के प्रति इनकी भी भाषा सही नहीं कही जा सकती।

लेखक ने मौर्य शासकों और उनके समय पर अपने निबंध में स्पष्ट रूप से नहीं बताया है। लेकिन आजीवक पृष्ठभूमि के क्रम में इन्हें मौर्य वंश पर चर्चा करनी पड़ी। क्योंकि, मौर्य सम्राट 'अशोक ने 'खलतिक' (गया जिलांतर्गत 'बराबर') नामक पर्वत में आजीवकों के लिए तीन गुफाएँ निर्माण की थीं। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी खलतिक पर्वत के निकट ही नागार्जुन नामक पर्वत में आजीवकों के लिए और तीन गुफाएँ निर्माण करवाई थीं। अतएव इसमें संदेह नहीं है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में मगध में आजीवक संप्रदाय का यथेष्ठ प्रभाव था। तथा उस समय पौंड्रवर्धन प्रभृति बंगालदेश के विभिन्न स्थानों में भी उनका सद्भाव होना कोई विचित्र बात नहीं है।' इसके बाद लेखक ने मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य (ई.पू. ३२२ से २९८) के बारे में लिखा है, 'यदि जैन साहित्य देखा जाय तो चन्द्रगुप्त चौबीस वर्ष शासन करने के बाद सिंहासन त्याग कर कर्नाटक में चला गया था एवं वहाँ पर वर्तमान मैसूर के अंतर्गत 'श्रमणबेलगोला' नामक स्थान में जैन भिक्षु रूप में उसकी मृत्यु हुई थी।' श्री सेन ने चन्द्रगुप्त और अशोक के बीच बिंदुसार का नाम तक नहीं लिया। बिंदुसार कौन थे? सम्राट बिंदुसार चन्द्रगुप्त के बेटे और अशोक के पिता थे। वे जन्मजात आजीवक थे और मरे भी आजीवक धर्म में ही थे। इसका अर्थ होता है कि चन्द्रगुप्त भी आजीवक थे और अशोक भी आजीवक ही पैदा हुए थे। आजीवक के रूप में अशोक ने पूरे भारतवर्ष पर विजय पाई थी। दोनों दादा और पोते यानी चन्द्रगुप्त और अशोक अपने जीवन के अंतिम दिनों में क्रमशः जैन और बौद्ध हो गए। एक तरह से इन्हें जैनियों और बौद्धों ने बहका लिया था।

यह बेझिझक कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अंतिम दिनों में जैन धर्मांतरित हुए थे, अन्यथा उनके बाद शासक बनने वाले उनके पुत्र

बिंदुसार (ई.पू. २९९ से २७१) तो आजीवक ही थे। अगर चन्द्रगुप्त ने बिंदुसार के पैदा होने से पहले या उनके बचपन में जैन धर्मांतरण किया होता तो निश्चित ही बिंदुसार भी जैन परंपरा को मानते। ऐसे ही सम्राट अशोक ने जीवन के उत्तरार्ध में बौद्ध धर्मांतरण किया। यही वजह रही कि अशोक के उत्तराधिकारी आजीवक धर्म परंपरा का पालन करते रहे। असल में बुढ़ापे का धर्मांतरण आजीवकों अर्थात दलितों के लिए मुसीबत लेकर आया है। फिर चाहे वह चन्द्रगुप्त मौर्य का धर्मांतरण हो या अशोक का या डॉ. भीमराव अम्बेडकर का। इनमें किसी तरह की कोई असमानता नहीं है। ऐसे धर्मांतरण से आजीवक का कहीं के नहीं रहे, यों कहिए कि माया मिली ना राम।

असल में, लेखक ने रणनीति के तौर पर 'जैन और आजीवक धर्मों को ही बंगाल के आदि धर्म स्वीकार' किया है। अन्यथा तो बंगाल में केवल और केवल आजीवक धर्म का ही बोलबाला था। जैन धर्म को भी बंगाल का आदि धर्म बता कर ये आजीवक को ढक देना चाहते थे। ये उस समय देश में चल रहे अछूतों के आंदोलन 'आदि हिंदू' के अपने मूल स्वरूप आजीवक के रूप में आने की संभावना से बेचैन थे। बेशक, आदि हिंदू आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी अछूतानंद की कम आयु में देहांत हो जाने के कारण वे आजीवक तक नहीं पहुँच पाए। लेकिन, आदि हिंदू के नाम पर उन्होंने अछूतों अर्थात दलितों के लिए धर्म का आंदोलन खड़ा कर दिया था। आगे चल कर इस आंदोलन को डॉ. अम्बेडकर को बढ़ाना था, लेकिन वे इतर कारणों की वजह से बुद्ध की शरण में जा पहुँचे। इससे आदि हिंदू आंदोलन को अथाह नुकसान पहुँचा।

दरअसल, लेखक आजीवक के बारे में पता ही नहीं लगने देना चाहते थे कि आजीवक कौन थे। वे जान गए थे कि आजीवक धर्म बंगाल का ही नहीं बल्कि इस देश का आदि धर्म है। लेकिन अगर वे इस बात को बता देते तो बंगाल ही नहीं बल्कि सारे भारत के ब्राह्मण इनके पीछे पड़ जाते। बंगाल के कथित भद्र लोक में इनकी एंट्री बैन हो जाती। ऐसे में इन्होंने जो रास्ता निकाला वह था, जैन धर्म के साथ–साथ आजीवक को भी बंगाल का आदि धर्म बता दिया जाए। यों, इन्होंने आगे के लिए आजीवकों अर्थात् दलितों का रास्ता खोल दिया है। सच कब तक छुपाया जा सकता है! डॉ. धर्मवीर ने सत्य को जान लिया था। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक और बीसवीं सदी के प्रारंभ में लंबी बहस के बाद वे आजीवक को इसके मूल स्वरूप में ले आए। साल २०१७ में उनकी अंतिम प्रकाशित किताब 'महान आजीवक – कबीर, रैदास और गोसाल' के रूप में सामने आई। निश्चित ही अब बंगाल ही नहीं पूरे देश में आजीवक के प्रमाण दिन–प्रतिदिन मिलते चले जाएँगे।

बताना यही है, आजीवक बंगाल ही नहीं पूरे भारतवर्ष का आदि और मूल धर्म रहा है, जिसके मूल में वर्ण, पुनर्जन्म और संन्यास की किसी भी रूप में अस्वीकृति है। यही आदि हिंदू आंदोलन के मूल में भी है। इसी आदि हिंदू अर्थात आजीवक की जड़ें हड़प्पा सभ्यता तक फैली हुई हैं। उम्मीद है आने वाले समय में हमारे आजीवक स्कॉलर इसे खोज लेंगे।

■

'बोलना ही है'
पुस्तक और मीडिया : एक अध्ययन

धर्मवीर सिंह *

'बोलना ही है' पुस्तक और मीडिया एक अध्ययन

"आज मुख्यधारा मीडिया के पत्रकार भी बहुत डरे हुए हैं और एक डरा हुआ पत्रकार एक मरा हुआ नागरिक पैदा करता है" क्या हमारा जागरूक समाज मर रहा है? या हम मर रहे हैं? यदि ऐसा नहीं है तो फिर क्यों एक पत्रकार को पत्रकारिता के साथ लेखक भी बनना पड़ रहा है? क्या यह लेखक स्वांत–सुखाय के लिए बना है? यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर पुस्तक का शीर्षक क्यों समाज को चुप्पा या मरने की कगार पर होने की घोषणा कर रहा है। पुस्तक का शीर्षक है 'बोलना ही है' शीर्षक को पढ़कर एक कवि की पंक्तियाँ याद आती है–

"आदमी मरने के बाद कुछ नहीं सोचता/आदमी मरने के बाद कुछ नहीं बोलता/कुछ नहीं सोचने और बोलने पर/आदमी मर जाता है"? (उदय प्रकाश)

रवीश कुमार की यह पुस्तक वर्तमान समाज की चुप्पी को लगातार तोड़ने का प्रयास कर रही है। यह पुस्तक एक मशाल की भांति समाज के सामने है, समाज चाहे इसे अपनाए या न अपनाए लेकीन यह अपने साहस के साथ खड़ी है जो समाज के बाकी पत्रकार और चुप्पा किस्म के लोगों के लिए इस समय का सच हमेशा कहती रहेगी। यह पुस्तक आदमी पर हो रहे आदमी द्वारा जानलेवा हमले का कच्चा चिठ्ठा जान पड़ती है, आदमी का मानव और मानवीयता त्यागकर एक भीड़ में तब्दील हो जाना रवीश की बड़ी चिंता है। यूँ तो भीड़ सभी आदमियों के लिए खतरनाक है किन्तु वह सबसे अधिक खतरनाक खुद अपने लिए है। अपने हक और लोकतंत्र के लिए खतरनाक है। इस प्रकार के खतरे से आगाह करते रवीश कुमार लिखते हैं– "अब एडिटर एडिटर से कैसे पूछे कि 'खबर क्या है? तुमने इतने दिनों में खबर क्यों नहीं की है? न्यूज चौनलों के न्यूज रूम का एक ही काम है। डिबेट का प्वाइंट तय करना। जनता भी इसी को पत्रकारिता समझने लगी है"[1]

यह वाकई विचारणीय तथ्य है क्योंकि हो न हो हम आर्थिक रूप से भले ही सम्पन्न हो रहे हो, किन्तु सांस्कृतिक और सोचने–विचारने के स्थान पर दिन – प्रतिदिन गिरते ही जा रहे हैं जिस प्रकार की पत्रकारिता मुख्य धारा का मीडिया

*संपर्क – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली– 110007, मो.–9899774747

कर रहा है वह मध्यकाल की पत्रकारिता है। इस प्रकार की पत्रकारिता में राजा व उसके मंत्रिमंडल की खबरें ही प्रमुखता से दर्ज होती थी या चर्चा का विषय बनती थी। आम जनता इस चर्चा–परिचर्चा से तब भी बाहर थी और अब भी बाहर है। जबकि मीडिया को ध्यान उधर देना चाहिए जहां सरकारी नीतियाँ नहीं पहुँच पा रही हैं , जहां अब भी लोग मूलभूत सुविधाओं व आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम नहीं है। जहां शिक्षा और स्वास्थ्य के अभाव में कबीले के कबीले वर्षों से भटक रहे हैं। जहां अन्याय न्याय से बहुत पहले ही मिल जाता है। जहां सत्य को भी लाठी लेकर अपनी रक्षा करनी पड़ती है। रवीश इस विषय में लिखते हैं– "यह बात मुझे एक घटना की याद दिलाती है। घटना अभी हाल ही के वर्षों की है। उत्तर प्रदेश के डॉ. कफील को सिर्फ शक के दायरे में रखकर तीन वर्ष जेल में ही कैद करके रखा गया। बहुत बाद में जब उनपर कोई दोष साबित नहीं हुआ तो उन्हें रिहा कर दिया। किन्तु उनके तीन वर्ष कौन लौटाएगा? कौन लौटाएगा उनके परिवार की खो चुकी इज्जत? कौन देगा हिसाब उनकी पत्नी ने जो जिल्लत सही उसका ?"[2]

इतिहास में यदि कुछ बुरा आपके हाथों हो गया और यदि आप में थोड़ी भी मानवीयता बची है, तो आप उस घटना को लेकर दुखी होंगे। आप जिसे अपने से बेहतर समझते हैं, हो सकता है उससे इसकी चर्चा भी करें और अपने आप को उस ग्लानि से बाहर निकालने के उपर्युक्त उपाय भी करेंगे। किन्तु यदि आप बेशर्म हैं तो आपको जरा भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है फिर आप खूब पाप करें और अन्त में इतिहास बदल दें। उदाहरण के लिए रवीश कुमार लिखते हैं –"इस दौर में सबको भरोसा है कि इतिहास से डरने की जरूरत नहीं है। इतिहास बदला जा सकता है, घटनाओं और शख्सियतों को देश की सामूहिक स्मृति से मिटाया जा सकता है, उतनी ही आसानी से जितना कि स्कूलों के टेक्स्टबुक से"[3]

आपको लगेगा कि क्या विषय लेकर बैठ गया, लेकीन विषय की गंभीरता को जानने के लिए तुलना अपने बराबर या अपने से थोड़े बड़े से ही की जाती है। मीडिया देखता है आस–पास के गरीब देश जिनकी स्थिति भारत से खराब है , यूँ विश्व के उत्कृष्ट देशों में भारत की स्थिति बहुत बेहतर नहीं है। उदाहरण के लिए आप ये देखिए–"प्रेस की आजादी के मामले में दुनिया में भारत की स्थिति को देखें तो वह 180 देशों की सूची में 140वें स्थान पर है। ऐसा सिर्फ सरकार की वजह से नहीं हुआ है, दर्शकों और पाठकों की वजह से भी हुआ है। तभी तो जो चौनल या अखबार जितना दरबारी है, वह रेटिंग और सब्स्क्रिप्शन की होड़ में उतने ही बेहतर नंबर पाते हैं"[4]

यह पुस्तक पढ़ते हुए हमें पता चलता है कि पहले न्यूज एडिटर होना बड़े खतरे और मेहनत का काम था। सारा–सारा दिन यह सोचने में लग जाता था कि शाम के समय जन सामान्य अपने–अपने काम से घर पहुँचता है तब क्या न्यूज चलाई जाए। किन्तु अब यह सब बड़ा सरल हो गया है। अब केवल कुछ बहस के मुद्दे सोचने होते हैं, और दो व्यक्तियों को बुलाकर उस पर बहस करा देनी होती है। सोशल मीडिया की भी बहुत अहमियत बढ़ी है आजकल के युग में भारत में

इतनी अहमियत पढ़े–लिखे लोगों की नहीं है, जितनी कम पढ़े–लिखे लोगों की है। ये कम पढ़े–लिखे लोग मीडिया के बहुत काम आते हैं, मीडिया जो बोलता है उस पर पूरा भरोसा करते हैं। ईं लोगों को अपनी परेशानियाँ दिखती ही नहीं बस एक धर्म और जाति विशेष के लोग यदि परेशान हो रहे हैं तो ये अपना नुकसान भी हस्ते हुए सहन करने को तैयार हैं।

जो एक पत्रकार के रूप में रवीश ने किया है और कर रहे हैं, वह ऊपरी रूप से देखने में भले ही सामान्य या कम जोखिम भरा लगे, किन्तु यथार्थ में एक दृ एक पल इस स्थिति में जीवित रहना एक बड़ी चुनौती के समान है। रात–रात भर नींद न आना, छः – छः महीने घर से बाहर न निकलना, फोन पर भी कोई मित्र बात नहीं करता जब उसे मालूम हो की फोन रिकार्ड हो रहा है। रवीश कुमार अपना सच बताते हुए लिखते हैं–"जहाँ कोई सरकार के बारे में आलोचनात्मक बोलता है, हमला होने लगता है। व्हाट्सएप्प पर घेरकर मार दिए जाने की धमकी से लेकर फोन नंबर पब्लिक कर गाली दिलवाने की धमकी तक का ऐलान– यह सब एक आदमी को डराने के लिए काफी है"[5]

मीडिया की सांप्रदायिकता बहस अब देखते–देखते चाय की दुकानों और दोस्तों की महफिलों तक में आ पहुंची है। जो थोड़े संवेदनशील लोग हैं उन्होंने स्वयं को इन बहसों से बाहर कर लिया है, किन्तु रवीश कुमार कहते हैं कि यह आम आदमी के बोलने की आदत को छुड़ाने की साजिश है जिसमें हम और आप जैसे लोग फँसते जा रहे हैं। "आप खुद से एक सवाल कीजिए। क्या आपको बोलने से डर लगता है? क्यों लगता है? क्या आप डरने के लिए कोई व्यवस्था का चुनाव करते हैं? यह डर मार दिए जाने का है या अकेला हो जाने का है? अगर मार दिए जाने का डर नहीं है तो आप दोस्तों के बीच अकेला हो जाने का डर मत पालिए। इतना तो आप जोखिम उठा ही सकते हैं। दोस्तों की निष्ठा जिसके प्रति हो, अगर आपको लगता है कि गलत है तो बोल दीजिए। अगर आप दोस्तों के बीच नहीं बोल पाएँगे तो सरकार के सामने कैसे बोलेंगे। बोलने का अभ्यास कहीं से तो करना ही होगा। अभी इतने हालात नहीं बिगड़े हैं कि कोई बोल न सके"[6]

आजकल मीडिया ने एक खास किस्म की न्यूज की खोज की है। इसे फेक न्यूज कहते हैं, जो किसी व्यक्ति, समुदाय, संस्था आदि को मिनटों में बर्बाद कर सकती है। दरअसल जब इसे फैलाया जाता है तो हर तरफ से शोर मचाया जाता है। लोगों द्वारा भी और सोशल मीडिया द्वारा भी, किन्तु जब वह फेक न्यूज साबित होती है तो उस पर कोई चर्चा नहीं, कहीं कोई बात ही नहीं करता। तब तक लोग जान जाते हैं कि उनका बेवकूफ बनाया गया किन्तु इसे वे स्वीकार नहीं करना चाहते इसलिए कुतर्क से ही सही वे अपनी बात पर अड़े रहते हैं। एक उदाहरण आप देखिए –"फेक न्यूज ने कितना असर किया, कोई नहीं बता सकता। मगर हाँ, एक महीने के भीतर इस फेक न्यूज का गुब्बारा फट गया। बस फर्क यह था कि अब गुजरात की जनता के पास इस फेक न्यूज पर रीयल चर्चा करने का समय नहीं था। चुनाव के नतीजे भी आ गए थे और फेक न्यूज का मकसद भी पूरा हो गया था"[7]

किसी भी व्यक्ति के चुनाव के बाहर होता है की वह किस जाति या किस धर्म में जन्म ले। फिर जाति या धर्म से क्यों किसी को देशभक्त और किसी को देशद्रोही के रूप में देखा जाता है। एक एजेंडा जो मीडिया ने सोशल मीडिया के जरिए फैलाया है कि भारत में जीतने आतंक होते हैं उनके पीछे किसी मुस्लिम का हाथ जरूर होता है। दरअसल यह मीडिया के हाथों का खेल है कि एक ही समय में यदि कोई क्राइम मुस्लिम करता है और ठीक उसी समय कोई क्राइम हिन्दू करता है। आप देखेंगे कि मुस्लिम द्वारा किए गए क्राइम को मिर्च–मसाला समाज के सामने रखा जाएगा, जिसमें हिन्दू व्यक्ति की बहुत कम चर्चा होगी। इसी का परिणाम है जो हम अपने आस–पास देखते पढ़ते रहते हैं। एक दफा रिपोर्टिंग करते हुए ऐसा ही हुआ–" 9 जून, 2017 को कैरेवान पत्रिका ने बसित मलिक का जो विवरण छापा है, उसे पढ़ना आसान नहीं है। पत्रकार बसित मलिक दिल्ली के सोनिया विहार में रिपोर्टिंग करने गए थे। वहाँ पर एक जगह को लेकर दो समुदायों में विवाद है। जैसे ही लोगों को पता चला कि वे मुस्लिम है, भीड़ ने उन पर हमला कर दिया"[8]

आज जैसा मानवता शून्य समाज बताया जा रहा है क्या इसके पीछे सिर्फ बाजार का हाथ है। या इसमें कुछ घाल–मेल मीडिया द्वारा भी किया जा रहा है? 'अन्याय करना जितना बुरा है उतना ही अन्याय सहना भी बुरा है' हमें समझना चाहिए कि मीडिया का गिरती मानवीयता में कोई रोल नहीं है किन्तु जब यह गिरती मानवीयता हम सभी को दिख रही है तो मीडिया को क्यों नहीं दिख रही? जैसी रिपोर्टिंग आज हो रही है उसके लिए रवीश कुमार पहले ही चेतावनी दे चुके है, वे कहते हैं कि टेलीविजन पर न्यूज के नाम पर कूड़ा–कचरा दिखाया जा रहा है। सांप्रदायिक सद्भाव को समाप्त किया जा रहा है। रवीश कुमार लिखते हैं– "सिर्फ इतना कह देना कि खतरनाक है, काफी नहीं है। हमारे पेशे में गोएबल्स आ गया है। वो है, वो दिख नहीं रहा है, लेकिन उसने अपना काम शुरू कर दिया है। उस गोएबल्स का ही काम है कि एक मामला जो सात साल पुराना है, उसको लेकर एक टेलीविजन चौनल रात भर कार्यक्रम करता है। तीन साल से मैं खुद परेशान हूँ और कह रहा हूँ कि श्टीवी मत देखो। बंद कर दो इस टेलीविजन को देखना। 'लोगों को बताना पड़ेगा कि' आप जो देख रहे हैं वह कूड़ा है"[9]

1984 के दंगे के बाद दिल्ली में कम से कम सांप्रदायिक हवा नहीं चली थी। इसके दो प्रमुख कारण थे। एक तो दिल्ली में बड़ी संख्या में राजनेता निवास करते हैं , और दूसरा कि देश का अधिकतर शिक्षित वर्ग दिल्ली में आकार बसने लगा है। दिल्ली देश की राजधानी है और सुरक्षित जगहों में जानी जाती है किन्तु 2020 में हुए दिल्ली दंगे ने एक बार फिर दिल्ली को असुरक्षित कर दिया। यह कार्य जो मीडिया ने किया, यह समाज के किसी वर्ग के, किसी तबके के लिए ठीक साबित नहीं हुआ सिवाय मीडिया। इसलिए रवीश कुमार हर हालत में मनुष्य को बोलने के लिए प्रेरित करते हैं। समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट करते हुए रवीश कुमार जब गौरी लंकेश की हुई निर्मम हत्या पर श्रद्धांजलि देने पहुंचते है। वहां लोग इनसे पूछते हैं कि आप यहां क्यों आए हो? आपको भय नहीं

लगता? इसके जवाब में रवीश कहते हैं दृ"मैंने कहा, अपने लिए तो नहीं आया हूँ । इसलिए आया हूँ कि एक गौरी लंकेश को मारकर व्यापक जनता को यह जो संदेश दिया जा रहा है कि आप भी चुप रहिए । आपकी नौकरी चली गई है । बच्चे–बच्चियों के स्कूल की फीस महँगी हो गई है । आप मत बोलिए , वरना आपकी हालत भी इसी प्रकार की होगी । इस संदेश को नकारा जाए , इसलिए यहाँ आया हूँ"[10]

क्या मीडिया को अब लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कहा जा सकता है और यदि हां तो फिर वह अपना काम ठीक से क्यों नहीं करता? वह क्यों राजनीति से तालमेल बैठा कर अपना कार्य कर रहा है। किसी व्यक्ति या समाज विशेष का समाज में डर कर रहना एक बात है किन्तु क्या वे अपने सपनों को भी तिलांजलि दे दें। चूंकि जो समाज में डरा हुआ है या डर कर सब कार्य होते देख रहा है। उस व्यक्ति की उम्मीद तो मीडिया से ही हो सकती है। उस मीडिया से जो निःस्वार्थ भाव से समाज के साधारण लोगों की मदद करता हो। किन्तु क्या आज का मीडिया निःस्वार्थ है?–"जनता जब शक्तिविहीन होती है तो क्या होता है? वह कन्फ्यूज होती है कि सत्ता का किस हद तक विरोध करे कि विरोधी न लगे। यह पैटर्न बन गया है"[11] एक पेशे में रहकर ईमानदारी के साथ उस पेशे की खामियों पर चर्चा करना बहुत साहस की बात है। रवीश इस बात की चिंता किए बगैर कि जो कीचड़ वे समाज को दिखा रहे हैं, समाज के लोग उनको भी उसी में घसीटेंगे। वह कहते हैं, जितना सच है, उतना कहते हैं। न की जितना कहा जाना चाहिए या जितने से काम चल जाए। रवीश कुमार लिखते हैं–"लुम्पेन या लंपट होना अब गलत नहीं है। न चौराहे पर गलत है और न टीवी के स्टूडियो में। भारत की अब तक की सांस्कृतिक यात्रा में लंपटों का ऐसा जमाना शायद ही, कभी आया हो! हर बहस चौराहे पर है और चौराहे की बहसें घरों में हैं। एक नहीं, कई सौ चौनलों ने यह काम किया है"[12]

आज के मीडिया ने स्वयं को एक करके समाज को बाँट दिया है । अब चाहे जो भी टी. वी. चौनल देख लो सभी पर एक जैसी खबरें रहती है। देश के नागरिक क्या देखना चाहते हैं इस से उन्हें कोई सरोकार नहीं, उन्हें क्या दिखाना है इस बात पर मीडिया आ टिका है। अब हर सुबह राशिफल, चमत्कार, राजनीति और शाम के वक्त एक वाक युद्ध बस यही मीडिया का पैटर्न बन गया है। आज हमारे नेता यहां गए हैं, कल वहां जाएंगे। जनता कहाँ जाएगी ये वे नहीं जानते और न जानना चाहते हैं । रवीश कुमार मीडिया को दो टूक जवाब देते हुए लिखते हैं–"मीडिया की भाषा में दो प्रकार के नागरिक हैं–एक तो नेशनल और दूसरे, एंटी–नेशनल। एंटी–नेशनल वह है जो सवाल करता है, असहमति रखता है। असहमति लोकतंत्र और नागरिकता की आत्मा है। उस आत्मा पर रोज हमला होता है। जब नागरिकता खतरे में हो या उसका मतलब ही बदल दिया जाए, तब उस नागरिक की पत्रकारिता कैसी होगी"[13]

क्यों हो रहा है इस प्रकार? क्या अतीत की ओर लौटना ही आधुनिकता है? क्या विश्व गुरु सिर्फ इतिहास जानना चाहता है? आज हम देख रहे हैं हर

धर्म, हर जाति में दबंगों का एक संगठन बन गया है । जो उस समाज की दिशा निर्धारित कर रहा है। जो उस समाज को बाकी के लोगों से सुरक्षित करने का दावा करता है। यदि यह इतना आवश्यक है तो फिर क्यों हम अपनी कानून व्यवस्था मजबूत कर रहे हैं? हमें जानना और मानना चाहिए कि सबसे ऊपर सबसे बड़ा कानून है जो पूरे देश को सुरक्षा देता है।

यह तो मीडिया की देन है कि अब बच्चे भी किताबें धर्म , जाति देखकर खरीदते, पढ़ते हैं। ज्ञानी अब पढ़ा लिखा व्यक्ति नहीं रहा, बल्कि सेवानिवृत वृद्ध समाज हो गया है। अब किसी व्यक्ति का खून अपने कातिल को नहीं ढूँढता, बल्कि कातिल के धर्म व जाति को ढूँढता है। आप ही सोचे यह कैसे संभव है कि एक बाग में सारे फूल ही फूल हों कांटे न हों, या फिर एक दूसरे बाग में सभी कांटे हो कोई फूल न हो। यह संभव है नहीं और यदि कोई यह संभव होता दिखाता है तो वह मिथ्या कह रहा है, भ्रम में डाल रहा है। रवीश कुमार समाज समाज की मानवीयता के प्रति धारणा को मजबूत करते हुए लिखते हैं– "कई सौ चैनल हैं, मगर सारे चैनलों पर एक ही अंदाज में एक ही प्रकार की सूचना है। एक प्रकार से सवाल फ्रेम किए जा रहे हैं, ताकि सूचना के नाम पर धारणा फैलाई जा सके। इन्फॉर्मेशन में धारणा ही सूचना है– perception is the new information– जिसमें हर दिन नागरिकों को डराया जाता है, उनके बीच असुरक्षा पैदा की जाती है कि बोलने पर आपके अधिकार ले लिए जाएँगे। इस मीडिया के लिए 'विपक्ष' एक गंदा शब्द है"[14]

संदर्भ –

1. रवीश कुमार, बोलना ही है, राजकमल प्रकाशन, सातवां संस्करण, पृष्ठ संख्या –210
2. वही, पृष्ठ संख्या –22
3. वही, पृष्ठ संख्या –17
4. वही, पृष्ठ संख्या –13
5. वही, पृष्ठ संख्या –14
6. वही, पृष्ठ संख्या –43
7. वही, पृष्ठ संख्या –53
8. वही, पृष्ठ संख्या –60
9. वही, पृष्ठ संख्या –83
10. वही, पृष्ठ संख्या –78–88
11. वही, पृष्ठ संख्या –92
12. वही, पृष्ठ संख्या –142
13. वही, पृष्ठ संख्या –176
14. वही, पृष्ठ संख्या –199

■

रूस–यूक्रेन संघर्ष का एक अध्ययन

युद्ध–समय के व्यापार प्रतिबंधों के आर्थिक परिणाम

डॉ. मृणाल गौरव *

यह अध्ययन 2018–2023 से व्यापक आर्थिक और व्यापार आंकड़ों का उपयोग करते हुए, रूस–यूक्रेन संघर्ष के दौरान युद्ध–समय के प्रतिबंधों के आर्थिक प्रभाव का विश्लेषण करता है। यह दर्शाता है कि पश्चिमी प्रतिबंधों के बावजूद रूस ने व्यापार को गैर–मंजूरी देने वाले भागीदारों को पुनर्निर्देशित करके और उच्च कमोडिटी कीमतों से लाभान्वित होकर निर्यात राजस्व बनाए रखा। इसके विपरीत, यूक्रेन को गंभीर आर्थिक संकुचन, मुद्रास्फीति और व्यापार व्यवधान का सामना करना पड़ा – मुख्य रूप से प्रतिबंधों के बजाय युद्ध से प्रेरित – 2023 में अंतरराष्ट्रीय सहायता के कारण कुछ स्थिरीकरण के साथ। पेपर वैश्विक लहर प्रभावों पर भी प्रकाश डालता है, जिसमें मुद्रास्फीति, ऊर्जा और खाद्य मूल्य स्पाइक, और आपूर्ति श्रृंखला बदलाव शामिल हैं। निष्कर्ष बताते हैं कि प्रतिबंधों से असमान परिणाम मिलते हैं और महत्वपूर्ण वैश्विक आर्थिक जोखिम होते हैं।

बीज–शब्द : युद्ध के समय आर्थिक प्रतिबंध, रूस–यूक्रेन संघर्ष, व्यापार मोड़ और पुनर्निर्देशन, आर्थिक लचीलापन, वैश्विक स्पिलओवर प्रभाव, आर्थिक राज्य कला

परिचय : रूस–यूक्रेन युद्ध, जो फरवरी 2022 में बढ़ गया, ने पश्चिमी देशों के नेतृत्व में आर्थिक प्रतिबंधों के एक व्यापक पैकेज को ट्रिगर किया, जिससे ऊर्जा, वित्त, रक्षा और उच्च तकनीक क्षेत्र प्रभावित हुए। इन उपायों का उद्देश्य रूस की आर्थिक क्षमता को कमजोर करना और आगे की आक्रामकता को रोकना था। प्रतिबंध आर्थिक स्थिति का एक रूप है जिसका उद्देश्य प्रत्यक्ष सैन्य जुड़ाव के बिना लागत लगाना है, लेकिन उनकी प्रभावशीलता पर बहस होती है। इस मामले में, प्रतिबंधों ने व्यापार को बाधित किया, वैश्विक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि की और रूस की आर्थिक प्रणाली पर दबाव डाला। रूस ने गैर–स्वीकृत देशों को निर्यात पुनर्निर्देशित करके और राजकोषीय और मौद्रिक नीतियों को कड़ा करके

*संपर्क– सहायक प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, योगदा सत्संग महाविद्यालय, राँची, ई–मेलः mrinalgrv@gmail-com

जवाब दिया। इस बीच, यूक्रेन को युद्ध के बुनियादी ढांचे के नुकसान, व्यापार नाकाबंदी और आसमान छूती मुद्रास्फीति से गंभीर आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा, हालांकि अंतरराष्ट्रीय सहायता और अस्थायी व्यापार को बढ़ावा देने से कुछ राहत मिली।

यह अध्ययन तीन प्रमुख प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित करते हुए 2018 से 2023 तक व्यापक आर्थिक और व्यापार आंकड़ों की जांच करता हैरू

1. प्रतिबंधों ने रूस और यूक्रेन में व्यापार और आर्थिक संकेतकों को कैसे प्रभावित किया?
2. वैश्विक बाजारों, विशेष रूप से ऊर्जा और कृषि क्षेत्रों पर व्यापक प्रभाव क्या थे?
3. क्या प्रतिबंधों ने अपने लक्षित आर्थिक उद्देश्यों को पूरा किया?

2022 से पहले और बाद के रुझानों की तुलना करके, इस पत्र का उद्देश्य युद्ध–समय की आर्थिक नीति के उपकरण के रूप में प्रतिबंधों के प्रभाव और सीमाओं और वैश्विक वित्तीय स्थिरता के लिए उनके व्यापक परिणामों को स्पष्ट करना है।

साहित्य की समीक्षा

आर्थिक प्रतिबंधों पर साहित्य पिछले तीन दशकों में काफी विकसित हुआ है, जो वैश्विक भू–राजनीति में उनके उपयोग की बढ़ती आवृत्ति और जटिलता को दर्शाता है। विद्वानों ने लंबे समय से राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में प्रतिबंधों की प्रभावकारिता पर बहस की है और जिस हद तक वे लक्षित राज्यों पर आर्थिक लागत लगाते हैं।

1. **प्रतिबंधों पर सैद्धांतिक दृष्टिकोण**– हफबॉयर, स्कॉट और इलियट (2007) आर्थिक प्रतिबंधों पर सबसे व्यापक अनुभवजन्य अध्ययनों में से एक प्रदान करते हैं, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि उनकी सफलता दर मामूली है और काफी हद तक प्रतिबंधों, अंतर्राष्ट्रीय समर्थन और लक्षित राष्ट्र की आर्थिक भेद्यता के दायरे पर निर्भर है। मॉर्गन और श्वेबैक (1997) का तर्क है कि बहुपक्षीय और प्रमुख रणनीतिक क्षेत्रों पर लक्षित होने पर प्रतिबंध अधिक प्रभावी होते हैं। इसके विपरीत, पपे (1997) प्रतिबंधों की उपयोगिता को पूरी तरह से चुनौती देते हैं, यह कहते हुए कि वे अक्सर गंभीर मानवीय और आर्थिक लागतों को लागू करते हुए अपने इच्छित राजनीतिक परिणामों को प्राप्त करने में विफल रहते हैं।

2. **प्रतिबंधों का आर्थिक प्रभाव**– कई अध्ययनों ने ईरान, उत्तर कोरिया और वेनेजुएला जैसे देशों पर प्रतिबंधों के व्यापक आर्थिक प्रभाव का पता लगाया है। उदाहरण के लिए, एस्फहानी एवं अन्य (2016) दस्तावेज कैसे ईरान पर प्रतिबंधों ने तेल राजस्व को गंभीर रूप से कम कर दिया और दीर्घकालिक संरचनात्मक विकृतियों को जन्म दिया। इसी तरह, हैगार्ड और नोलैंड (2009) ने घरेलू कुप्रबंधन और लंबे समय तक बाहरी प्रतिबंधों दोनों के उत्पाद के रूप में उत्तर कोरिया में आर्थिक पतन का विश्लेषण किया।

रूस के मामले में, यूक्रेन पर 2022 के आक्रमण से पहले, 2014 में क्रीमिया के विनाश के बाद मौजूदा प्रतिबंधों ने पहले ही वित्त, तेल और रक्षा (कोनोली, 2018) जैसे क्षेत्रों को प्रभावित किया था। इन प्रतिबंधों ने जीडीपी वृद्धि को धीमा कर दिया, वैश्विक पूंजी बाजारों तक सीमित पहुंच और घरेलू आयात प्रतिस्थापन नीतियों में वृद्धि हुई। हालांकि, रूस ने राजकोषीय समायोजन और गैर–पश्चिमी व्यापार भागीदारों (गुरविच और प्रिलेप्स्की, 2015) के लिए एक धुरी के माध्यम से काफी लचीलापन प्रदर्शित किया है।

3. **रूस–यूक्रेन युद्ध और नई प्रतिबंध व्यवस्थाएं**– 2022 के बाद उभरने वाला साहित्य रूस पर पश्चिमी प्रतिबंधों के अभूतपूर्व पैमाने और समन्वय को संबोधित करता है। प्डथ् (2023) के अनुसार, रूस की अर्थव्यवस्था वर्ष 2022 में तेजी से संकुचित हुई, लेकिन एशिया के साथ पुनर्निर्देशित व्यापार और गैर–स्वीकृत देशों को ऊर्जा निर्यात में वृद्धि के कारण स्थिर होने लगी। कोर्होनेन एट अल (2023) जांच करें कि वैश्विक तेल और गैस की कीमतों में वृद्धि और भारत और चीन जैसे देशों की मांग के कारण प्रतिबंध के बावजूद रूस का ऊर्जा राजस्व कैसे मजबूत रहा।

यूक्रेन के पक्ष में, विश्व बैंक (2022) और अंकटाड (2023) की रिपोर्ट विनाशकारी आर्थिक टोल को उजागर करती हैकृजीडीपी 30ः से अधिक सिकुड़ गई, बुनियादी ढांचे की क्षति +100 बिलियन से अधिक हो गई, और बंदरगाह नाकाबंदी और सुरक्षा खतरों के कारण व्यापार की मात्रा घट गई। हालांकि, यूरोपीय संघ द्वारा टैरिफ के अस्थायी निलंबन और अंतरराष्ट्रीय संस्थानों से सहायता पैकेज ने आंशिक स्थिर भूमिका निभाई है।

4. **ग्लोबल स्पिलओवर प्रभाव**– प्रतिबंध साहित्य में वैश्विक स्पिलओवर प्रभावों को तेजी से पहचाना जाता है। ओईसीडी (2022) के अनुसार, युद्ध से संबंधित प्रतिबंधों और आपूर्ति व्यवधानों ने यूरोप, अफ्रीका और एशिया में मुद्रास्फीति के रुझान को तेज कर दिया है, विशेष रूप से ऊर्जा–आयात और खाद्य–असुरक्षित अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित किया है। चेपेलिव एट अल (2023) द्वारा वैश्विक सीजीई मॉडल का उपयोग करके अनुभवजन्य अध्ययन रूस–यूक्रेन युद्ध के कारण व्यापार प्रवाह, आपूर्ति श्रृंखलाओं और क्षेत्रीय आर्थिक गठबंधनों में दीर्घकालिक बदलाव का अनुमान लगाते हैं।

5. **साहित्य में अंतराल**– जबकि शुरुआती अध्ययनों ने प्रतिबंधों को समझने की नींव रखी है, रूस–यूक्रेन संघर्ष पर हाल का साहित्य या तो बहुत देश–विशिष्ट है या अल्पकालिक संकेतकों पर केंद्रित है। रूस के व्यापक आर्थिक अनुकूलन, यूक्रेन के व्यापार व्यवधान और सहायता प्रवाह, और व्यापक वैश्विक आर्थिक पुनर्गठन के संयोजन के एकीकृत विश्लेषण की आवश्यकता है। इस अध्ययन का उद्देश्य तीन आयामोंरू रूस, यूक्रेन और वैश्विक अर्थव्यवस्था में युद्ध–समय के प्रतिबंधों के आर्थिक प्रभाव के तुलनात्मक, डेटा–संचालित मूल्यांकन की पेशकश करके उस अंतर को भरना है।

अनुसंधान क्रियाविधि

यह अध्ययन रूस–यूक्रेन संघर्ष के दौरान लगाए गए युद्ध–समय के व्यापार प्रतिबंधों के आर्थिक परिणामों का मूल्यांकन करने के लिए एक वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक अनुसंधान डिजाइन को नियोजित करता है। कार्यप्रणाली रूस, यूक्रेन और व्यापक वैश्विक अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आर्थिक प्रभावों का पता लगाने के लिए व्याख्यात्मक मूल्यांकन के साथ व्यापक आर्थिक और व्यापार डेटा के मात्रात्मक विश्लेषण को एकीकृत करती है।

1. अनुसंधान डिजाइन

प्रकाररू वर्णनात्मक और अनुभवजन्य

दृष्टिकोणरू मात्रात्मक डेटा पर जोर देने के साथ मिश्रित तरीके

दायरारू 2018 से 2024 तक देश–स्तरीय और वैश्विक आर्थिक संकेतक

उद्देश्यरू युद्ध–प्रेरित प्रतिबंधों के कारण व्यापार, राजकोषीय और व्यापक आर्थिक व्यवधानों की पहचान और विश्लेषण करना

2. डेटा स्रोत

अध्ययन विशेष रूप से विश्वसनीय राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों से माध्यमिक डेटा पर निर्भर करता हैरू

विश्व बैंक – जीडीपी वृद्धि, मुद्रास्फीति, एफडीआई, सार्वजनिक ऋण

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) – मैक्रोइकॉनॉमिक संकेतक और आर्थिक आउटलुक रिपोर्ट

संयुक्त राष्ट्र कॉमट्रेड डेटाबेस – रूस, यूक्रेन और व्यापारिक भागीदारों के लिए व्यापार प्रवाह डेटा

विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) – वैश्विक व्यापार गतिशीलता और प्रतिबंधों पर डेटा

यूरोपीय संघ और अमेरिकी ट्रेजरी वेबसाइटें – स्वीकृति विवरण और नीति दस्तावेज

सेंट्रल बैंक ऑफ रूस और नेशनल बैंक ऑफ यूक्रेन – मौद्रिक संकेतक और मुद्रा रुझान

ओईसीडी और यूएनसीटीएडी – वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला और कमोडिटी प्रभावों का विश्लेषण

3. विश्लेषण की समय अवधि

अध्ययन में पूर्व–संघर्ष अवधि (2018–2021) और संघर्ष अवधि (2022–2024) को शामिल किया गया है ताकि प्रतिबंधों से पहले और बाद के रुझानों की पहचान की जा सके।

4. माना जाने वाला चर

कोटि	चर
व्यापार चर	निर्यात और आयात मात्रा (कुल और द्विपक्षीय), व्यापार संतुलन, व्यापार पुनर्निर्देशन
समष्टि आर्थिक संकेतक	जीडीपी विकास दर, मुद्रास्फीति दर, विनिमय दर, ब्याज दर, एफडीआई प्रवाह
क्षेत्रीय प्रभाव	ऊर्जा निर्यात, कृषि निर्यात, विनिर्माण में गिरावट, आपूर्ति श्रृंखला के मुद्दे
वैश्विक संकेतक	तेल और गैस की कीमतें, अनाज की कीमतें, आयात करने वाले देशों में मुद्रास्फीति

5. **विश्लेषणात्मक उपकरण और तकनीक**

- वर्णनात्मक सांख्यिकी : आर्थिक संकेतकों में वर्ष–वार परिवर्तन और रुझानों का आकलन करने के लिए उपयोग किया जाता है
- तुलनात्मक विश्लेषण : रूस और यूक्रेन के लिए पूर्व और बाद के व्यापार और व्यापक आर्थिक तुलना
- प्रवृत्ति विश्लेषण : प्रभाव प्रक्षेपवक्र की कल्पना करने के लिए समय–श्रृंखला भूखंड
- चित्रमय प्रतिनिधित्व : निष्कर्षों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए बार ग्राफ, लाइन चार्ट और टेबल
- सहसंबंध विश्लेषण : व्यापार प्रतिबंधों और मुद्रास्फीति, जीडीपी संकुचन और मुद्रा मूल्यह्रास जैसे व्यापक आर्थिक चर के बीच संघों की खोज करना

6. **अध्ययन की सीमाएं**

अध्ययन 2022 के बाद के आर्थिक आंकड़ों की उपलब्धता और विश्वसनीयता से सीमित है, विशेष रूप से रूसी आधिकारिक स्रोतों से।

इसमें विषय की प्रकृति और चल रहे संघर्ष के कारण हितधारक साक्षात्कार जैसे प्राथमिक डेटा शामिल नहीं हैं।

कारण अनुमान सहसंबंधों तक सीमित हैय यह युद्ध के नुकसान और वैश्विक मुद्रास्फीति के रुझान जैसे भ्रमित चर के कारण प्रतिबंधों और आर्थिक परिणामों के बीच प्रत्यक्ष कारण स्थापित नहीं करता है।

यह पद्धति युद्ध प्रभावित भू–राजनीतिक संदर्भ में और वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रतिबंधों के बहुमुखी आर्थिक प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए एक मजबूत आधार प्रदान करती है।

आंकड़ों का विश्लेषण और व्याख्या

1. जीडीपी ग्रोथ ट्रेंड

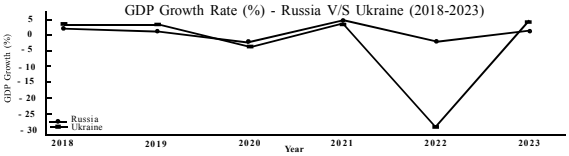

रूस ने महामारी (–2.7%) के कारण 2020 में एक तेज संकुचन का अनुभव किया, लेकिन 2021 (4.7%) में पलटाव हुआ। मंजूरी के बाद, 2022 में, इसकी GDP –2.1% तक सिकुड़ गई, इसके बाद 2023 में मामूली सुधार (1.2%) हुआ।

इसके विपरीत, यूक्रेन को वर्ष 2022 (–29.1%) में सकल घरेलू उत्पाद में भयावह गिरावट का सामना करना पड़ा, जिसका कारण युद्ध से प्रेरित अवसंरचनात्मक पतन, विस्थापन और उत्पादक क्षमता का नुकसान है। इसने 2023 (4.2%) में सुधार के संकेत दिखाए।

व्याख्या– यूक्रेन की तुलना में प्रतिबंधों का रूस के सकल घरेलू उत्पाद पर मामूली प्रभाव पड़ा, जिसकी अर्थव्यवस्था ने शारीरिक युद्ध और व्यापार नाकाबंदी का खामियाजा भुगता।

2. निर्यात प्रदर्शन

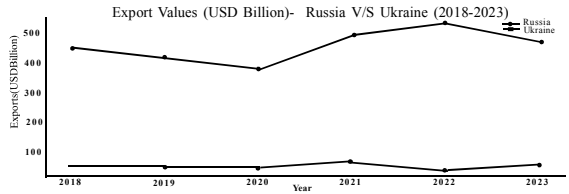

- वर्ष 2022 में रूस का निर्यात लचीला बना रहा, जो ऊर्जा की उच्च कीमतों और चीन, भारत और तुर्की के लिये पुनर्निर्देशित व्यापार के कारण बढ़कर +530 बिलियन हो गया।
- बंदरगाह बंद होने और प्रमुख निर्यात बाजारों तक पहुंच के नुकसान के कारण यूक्रेन का निर्यात 2022 में तेजी से गिरकर 40 बिलियन डॉलर हो गया, जो 2021 में 68 बिलियन डॉलर था।

व्याख्या– रूस ने अपने व्यापार को स्थिर करने के लिए विशेष रूप से तेल और गैस में वैश्विक वस्तु निर्भरता का लाभ उठाया, जबकि यूक्रेन की निर्यात–निर्भर अर्थव्यवस्था गंभीर रूप से बाधित थी।

तीन. मुद्रास्फीति दर

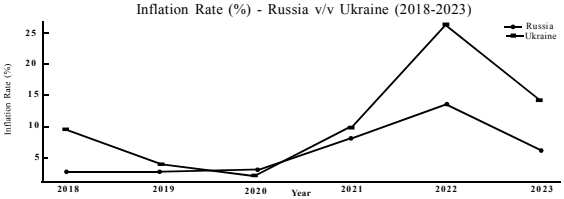

- रूस को बढ़ती मुद्रास्फीति का सामना करना पड़ा, जो आपूर्ति श्रृंखला की बाधाओं और मौद्रिक सख्ती के कारण 2022 में 13.8% पर पहुंच गई।
- आपूर्ति की कमी, मुद्रा मूल्यह्रास और राजकोषीय संकट के कारण 2022 में मुद्रास्फीति बढ़कर 26.6% हो गई, जिससे यूक्रेन को और भी विकट स्थिति का सामना करना पड़ा।

व्याख्या– दोनों देशों ने महत्वपूर्ण मुद्रास्फीति के दबाव देखे, हालांकि युद्धकालीन व्यवधानों और कमजोर संस्थागत प्रतिक्रिया के कारण यूक्रेन की मुद्रास्फीति लगभग दोगुनी थी।

इन निष्कर्षों से पता चलता है कि प्रतिबंधों ने रूस पर महत्वपूर्ण दबाव डाला, लेकिन वैकल्पिक व्यापार भागीदारों और उच्च वैश्विक कमोडिटी कीमतों द्वारा उनके पूर्ण आर्थिक अलगाव को कम किया गया। इस बीच, यूक्रेन ने मुख्य रूप से प्रत्यक्ष युद्ध प्रभावों के कारण आर्थिक तबाही का सामना किया, हालांकि अंतरराष्ट्रीय सहायता और व्यापार छूट ने वसूली के शुरुआती संकेतों में योगदान दिया हो सकता है।

निष्कर्ष और चर्चा

2018 और 2023 के बीच व्यापक आर्थिक और व्यापार संकेतकों के तुलनात्मक विश्लेषण से युद्ध–समय के प्रतिबंधों के आर्थिक प्रभाव और रूस–यूक्रेन संघर्ष के व्यापक परिणामों के बारे में कई महत्वपूर्ण निष्कर्षों का पता चलता है। इन निष्कर्षों को तीन मुख्य आयामों के तहत आयोजित किया जाता है। रूस का आर्थिक लचीलापन, यूक्रेन का युद्धकालीन आर्थिक पतन और वैश्विक स्पिलओवर प्रभाव।

1. रूस का आर्थिक अनुकूलन और लचीलापन

आधुनिक इतिहास में सबसे व्यापक प्रतिबंधों में से एक का सामना करने के बावजूद, रूस की अर्थव्यवस्था ने सापेक्ष अनुकूलन क्षमता का प्रदर्शन किया। **मुख्य टिप्पणियों में शामिल हैं–**

- व्यापार पुनर्निर्देशन : रूस ने प्रभावी रूप से अपनी व्यापार साझेदारी को उन देशों की ओर पुनर्निर्देशित किया, जिन्होंने प्रतिबंधों में भाग नहीं लिया, विशेष

रूप से चीन, भारत, तुर्की और संयुक्त अरब अमीरात। यह पुनर्निर्देशन आंशिक रूप से यूरोपीय संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ व्यापार में तेज गिरावट की भरपाई करता है।

- निर्यात प्रदर्शन : कच्चे तेल, प्राकृतिक गैस और अन्य वस्तुओं की बढ़ी हुई वैश्विक कीमतों ने रूस को पश्चिमी बाजारों से बाहर होने के बावजूद वर्ष 2022 में मजबूत निर्यात आय बनाए रखने की अनुमति दी। इसने निर्यात राजस्व में 2021 में +490 बिलियन से बढ़कर 2022 में +530 बिलियन हो गया।
- व्यापक आर्थिक स्थिरता : हालाँकि वर्ष 2022 में रूस की GDP में −2.1% की गिरावट आई, लेकिन वर्ष 2023 में इसमें मामूली सुधार हुआ। मुद्रास्फीति बढ़कर 13.8% हो गई लेकिन मौद्रिक सख्ती और पूंजी नियंत्रण के माध्यम से इसे नियंत्रण में लाया गया। ये संकेतक बताते हैं कि रूस की नीतिगत प्रतिक्रियाएं आर्थिक झटके को अवशोषित करने में अपेक्षाकृत प्रभावी थीं।

चर्चा– ये परिणाम इस धारणा को चुनौती देते हैं कि प्रतिबंध स्वचालित रूप से आर्थिक पतन की ओर ले जाते हैं। इसके बजाय, वे आर्थिक राज्य–कला की सीमाओं का वर्णन करते हैं जब लक्षित राज्य के पास पर्याप्त संसाधन बंदोबस्ती, भू–राजनीतिक विकल्प और एक सामंजस्यपूर्ण आंतरिक प्रतिक्रिया तंत्र होता है।

2. **यूक्रेन की आर्थिक तबाही और बाहरी समर्थन**

यूक्रेन को बहुत गहरा आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा, मुख्य रूप से युद्ध के प्रत्यक्ष परिणामों के कारण–

सकल घरेलू उत्पाद का पतन– 2022 में यूक्रेनी अर्थव्यवस्था में लगभग 29. 1% की गिरावट आई, जो आधुनिक आर्थिक इतिहास में दर्ज सबसे गंभीर वार्षिक गिरावट में से एक है। औद्योगिक बंद, क्षेत्रीय कब्जे और महत्वपूर्ण बुनियादी ढांचे के विनाश ने इस पतन में योगदान दिया।

- व्यापार व्यवधानरू अवरुद्ध बंदरगाहों, क्षतिग्रस्त रसद बुनियादी ढाँचे और कृषि बाजारों में अनिश्चितता के कारण वर्ष 2022 में यूक्रेन के निर्यात की मात्रा में 40% से अधिक की गिरावट आई। 2023 में रिकवरी को यूरोपीय संघ और अंतर्राष्ट्रीय सहायता से अस्थायी व्यापार उदारीकरण उपायों द्वारा सुगम बनाया गया था।
- बढ़ती मुद्रास्फीतिरू युद्ध से संबंधित आपूर्ति की कमी, मुद्रा मूल्यह्रास और राजस्व में गिरावट के कारण राजकोषीय संकट के कारण वर्ष 2022 में मुद्रास्फीति 26.6% तक पहुँच गई।

चर्चा– यूक्रेन की अर्थव्यवस्था न केवल उत्पादन क्षमता के नुकसान से प्रभावित थी, बल्कि कम व्यापार पहुंच और मानवीय और वित्तीय सहायता पर बढ़ती निर्भरता से भी प्रभावित हुई थी। जबकि 2023 में कुछ स्थिरीकरण हुआ, वसूली की राह लंबी बनी हुई है और निरंतर अंतरराष्ट्रीय समर्थन और पुनर्निर्माण पर निर्भर है।

3. वैश्विक स्पिलओवर और बाजार व्यवधान

प्रतिबंधों और रूस–यूक्रेन युद्ध का आर्थिक प्रभाव उनकी सीमाओं से बहुत आगे तक बढ़ा, जिसके कई प्रभाव थे–

- कमोडिटी मूल्य अस्थिरता : युद्ध और परिणामी प्रतिबंधों ने ऊर्जा, गेहूँ और उर्वरकों की वैश्विक आपूर्ति को बाधित कर दिया। कई देशों ने मुद्रास्फीति के दबाव का अनुभव किया, विशेष रूप से ग्लोबल साउथ में युद्धरत देशों से आयात पर निर्भर।
- मुद्रास्फीति संचरण : प्रतिबंधों से प्रेरित आपूर्ति बाधाओं ने वैश्विक मुद्रास्फीति स्पाइक्स में योगदान दिया, विशेष रूप से यूरोप में, जिसकी रूसी गैस पर महत्वपूर्ण निर्भरता थी।
- व्यापार और निवेश प्रवाह का पुनर्गठन : भू–राजनीतिक तनाव के कारण वैश्विक आपूर्ति शृंखलाओं का पुनर्गठन हुआ, जिससे थ्रू में बदलाव, व्यापार गठजोड़ और आर्थिक अलगाव के बारे में चर्चा हुई।

चर्चा– ये वैश्विक आर्थिक व्यवधान बताते हैं कि युद्ध–समय के प्रतिबंध अनपेक्षित परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकते हैं। मंजूरी देने वाले देशों को स्वयं मुद्रास्फीति और ऊर्जा असुरक्षा का सामना करना पड़ा, जबकि तीसरे पक्ष के राष्ट्र भोजन और ईंधन की कमी से जूझ रहे थे।

निष्कर्षों का संश्लेषण

निष्कर्ष बताते हैं कि युद्ध–समय के प्रतिबंधों के आर्थिक प्रभाव स्पष्ट होते हैं, लेकिन उनका प्रभाव लक्षित, प्रभावित और तीसरे पक्ष के राज्यों में काफी भिन्न होता है। रूसी मामला आर्थिक लचीलापन, व्यापार विविधीकरण और राज्य क्षमता के महत्व पर प्रकाश डालता है, जबकि यूक्रेन की स्थिति युद्ध क्षति और व्यापार अव्यवस्था के जटिल प्रभावों को रेखांकित करती है। वैश्विक स्तर पर, संकट भू–राजनीतिक झटकों के लिए अन्योन्याश्रित अर्थव्यवस्थाओं की भेद्यता को प्रकट करता है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि रूस–यूक्रेन संघर्ष के दौरान युद्ध–समय के आर्थिक प्रतिबंधों ने असममित परिणाम उत्पन्न किए। रूस, हालांकि व्यापक प्रतिबंधों द्वारा लक्षित, गैर–मंजूरी देने वाले देशों के निर्यात को फिर से शुरू करके और मजबूत कमोडिटी की कीमतों का लाभ उठाकर उल्लेखनीय लचीलापन प्रदर्शित करते हुए अपनी अर्थव्यवस्था को बनाए रखने में कामयाब रहा।
इसके विपरीत, यूक्रेन को गंभीर आर्थिक पतन का सामना करना पड़ा – लगभग 30% सकल घरेलू उत्पाद में गिरावट, व्यापक व्यापार व्यवधान और उच्च मुद्रास्फीति द्वारा चिह्नित – मुख्य रूप से प्रत्यक्ष युद्ध प्रभावों के कारण, अंतर्राष्ट्रीय सहायता के बावजूद 2023 में केवल मामूली सुधार कर पाना।

वैश्विक स्तर पर, संघर्ष और प्रतिबंधों ने ऊर्जा और खाद्य कीमतों में वृद्धि, मुद्रास्फीति के दबाव और आपूर्ति श्रृंखला के पुनर्गठन को गति दी है। निष्कर्ष इस बात को रेखांकित करते हैं कि, जबकि प्रतिबंध आर्थिक तनाव पैदा कर सकते हैं, उनकी प्रभावशीलता विविध है और अक्सर महत्वपूर्ण अनपेक्षित वैश्विक परिणामों

के साथ होती है। इसलिए नीति निर्माताओं को आर्थिक युद्ध के उपकरण के रूप में प्रतिबंधों को तैनात करते समय व्यापक आर्थिक जोखिमों के खिलाफ भू–राजनीतिक लक्ष्यों को तौलना चाहिए।

संदर्भ

बाल्डविन, डीए (1985)। आर्थिक राज्य–शिल्प। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

चेपेलीव, एम., एट अल (2023)। रूस–यूक्रेन युद्ध का वैश्विक सीजीई विश्लेषण। जर्नल ऑफ इकोनॉमिक मॉडलिंग, 59 (4), 112–135।

कोनोली, आर. (2018)। पश्चिमी प्रतिबंधों के लिए रूस का आर्थिक अनुकूलन। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

एस्फहानी, एचएस, एट अल (2016)। ईरान के तेल क्षेत्र पर प्रतिबंधों का दीर्घकालिक आर्थिक प्रभाव। ऊर्जा अर्थशास्त्र, 58, 152–166।

गुरविच, ई., और प्रिलेप्स्की, आई. (2015)। रूस में आयात प्रतिस्थापन और आर्थिक लचीलापन। रूसी आर्थिक जर्नल, 3 (2), 45–60।

हैगार्ड, एस., और नोलैंड, एम. (2009). परिवर्तन का गवाह– शरणार्थी पलायन, आर्थिक परिवर्तन और उत्तर कोरिया का पतन। पीटरसन इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल इकोनॉमिक्स।

हफबॉयर, जीसी, स्कॉट, जेजे, और इलियट, केए (2007)। आर्थिक प्रतिबंधों पर पुनर्विचार (तीसरा संस्करण। पीटरसन इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल इकोनॉमिक्स। आईएमएफ। विश्व आर्थिक आउटलुक– युद्ध की छाया में वसूली। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।

कोर्होनन, आई., एट अल (2023)। प्रतिबंधों के सामने रूस का ऊर्जा राजस्व : एक लचीलापन विश्लेषण। ऊर्जा नीति, 145, 112421।

मॉर्गन, टीसी, और 'वेबैक, वीएल (1 99 7)। आर्थिक अन्योन्याश्रितता और प्रतिबंधों की प्रभावकारिता। अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन त्रैमासिक, 41 (4), 481–494। ओईसीडी। (2022). रूस–यूक्रेन युद्ध के कारण आर्थिक दृष्टिकोण और वैश्विक स्पिलओवर। ओईसीडी प्रकाशन।

पपे, आरए (1997)। आर्थिक प्रतिबंध काम क्यों नहीं करते। अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा, 22 (2), 90–136।

यूएनसीटीएडी। व्यापार और विकास रिपोर्ट 2023– रूस–यूक्रेन युद्ध का प्रभाव। संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन।

विश्व बैंक। यूक्रेन का आर्थिक अद्यतन–युद्ध–प्रेरित राजकोषीय और व्यापार अस्थिरता को नेविगेट करना। विश्व बैंक।

डब्ल्यूटीओ। वैश्विक व्यापार रिपोर्ट 2023–रूसी–यूक्रेनी संघर्ष और वैश्विक व्यापार प्रवाह। विश्व व्यापार संगठन।

■

राष्ट्रीय राजमार्गों के संदर्भ में

ग्रामीण पारिवारिक संरचना में परिवर्तन

– दीपक मिश्रा[1] / हेमेन्द्र सिंह[2] *

परिवार किसी भी समाज के रीढ़ की तरह होता है. जिसके अभाव में समाज एवं सामाजिक संरचना की अवधारणा निमित्त मात्र है। भारतीय समाज में परिवार की धारणा विश्व के अन्य किसी भी देश से परिवार की धारणा में मूलभूत अंतर है। यह अंतर संयुक्तता के भाव से स्पष्ट होती है। यद्यपि परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं द्वारा परंपरागत पारिवारिक संरचना प्रभावित हुई है परंतु अवसंरचनात्मक विकास यथा राष्ट्रीय राजमार्गों के तीव्र विस्तार ने भारतीय ग्रामीण पारिवारिक संरचना को बहुत हद तक प्रभावित किया है। राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास के फलस्वरूप ग्रामीण समाज के लोग भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि हेतु नगरों की तरफ पलायन करने लगे। कृषि योग्य भूमि के व्यवसायीकारण ने पारिवारिक आय के साधन का विकल्प प्रस्तुत किया है। यातायात साधनों के विकास ने परिवार की संयुक्तता एवं कर्ता की भूमिका को भी प्रभावित किया है। इस शोध पत्र में साक्षात्कार अनुसूची का प्रयोग किया गया है जिसमें मुरादाबाद जनपद के दो गांव से 20 परिवारों के कर्ता का साक्षात्कार लिया गया है और राजमार्गों का ग्रामीण सामाजिक संरचना पर हुए प्रभाव को जानने का प्रयास किया गया। यह शोध पत्र सरकारी योजनाओं के विकास एवं आगामी शोधार्थियों के लिए उपयोगी होगा।

बीज शब्द : ग्रामीण सामाजिक संरचना, परिवार, राष्ट्रीय राजमार्ग।

प्रस्तावना : इस तथ्य से सभी विद्वान सहमत होंगे कि परिवार सबसे प्राचीन और मूलभूत संस्था है। परिवार लगभग सभी समाजों की महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है (बर्टलैंड, 1958)। परिवार की निरंतरता को स्पष्ट करते हुए मैलिनोवस्की कहते हैं कि परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है। मनुष्य सभ्यता के किसी भी स्तर पर रहा हो परिवार का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अनिवार्य रूप से रहा है क्योंकि यह अपने सदस्यों की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक इत्यादि आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

***संपर्क** – 1 सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, के०जी० के० (पी०जी०) कॉलेज, मुरादाबाद, 2 समाजशास्त्र विभाग, के०जी० के० (पी०जी०) कॉलेज मुरादाबाद

साधारणतः समाजशास्त्र की दृष्टि से पति–पत्नी एवं बच्चों को परिवार कहा जाता है। लेकिन भारत में परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से समझा जाता है। डा कर्वे का कहना है कि श्भारत में परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से ही है। इसी क्रम में मैक्स मूलर ने भारतीय संयुक्त पारिवारिक प्रणाली को भारत की आदि परंपरा तक कहा है। कौच एवं मैकडॉनल के मत अनुसार भारतीय संयुक्त परिवार की धारणा अति प्राचीन है। इसकी पुष्टि पुराण, धार्मिक ग्रंथ एवं वैदिक मंत्र करते हैं। विवाहों पर अंत वर वधु को आशीर्वाद दिया जाता है कि श्तुम यही इस घर में रहो, वियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों एवं पौत्रों के साथ खेलते हुए एवं आनंद मनाते हुए सारी आयु का उपभोग करो तथा तू सास, ससुर देवर, ननद पर शासन करने वाली रानी बन। अतः भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बिना पारिवारिक व्यवस्था के नहीं समझा जा सकता।

यद्यपि परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं द्वारा परंपरागत पारिवारिक संरचना प्रभावित हुई है परंतु अवसंरचनात्मक विकास यथा राष्ट्रीय राजमार्गों के तीव्र विस्तार ने भारतीय ग्रामीण पारिवारिक संरचना को बहुत हद तक प्रभावित किया है। राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास के फलस्वरूप ग्रामीण समाज के लोग भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि हेतु नगरों की तरफ पलायन करने लगे। कृषि योग्य भूमि के व्यवसायीकारण ने पारिवारिक आय के साधन का विकल्प प्रस्तुत किया है। यातायात साधनों के विकास ने परिवार की संयुक्तता एवं कर्ता की भूमिका को भी प्रभावित किया है। इस शोध पत्र में साक्षात्कार अनुसूची का प्रयोग किया गया है जिसमें मुरादाबाद जनपद के दो गांव से 20 परिवारों के कर्ता का साक्षात्कार लिया गया है और राजमार्गों का ग्रामीण सामाजिक संरचना पर हुए प्रभाव को जानने का प्रयास किया गया। यह शोध पत्र सरकारी योजनाओं के विकास एवं आगामी शोधार्थियों के लिए उपयोगी होगा।

परिवर्तन एक शाश्वत एवं निरंतर प्रक्रिया है जिससे परिवार रूपी संस्था भी प्रभावित हुई है। इस प्रक्रिया में ग्रामीण पारिवारिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। वैदिक युगीन भारतीय पारिवारिक संरचना रामायण, महाभारत युग से वर्तमान पारिवारिक व्यवस्था में परिवर्तन लक्षित हुए हैं। विकास की अनेक अनेक प्रक्रियाओं औद्योगिकरण, उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण इत्यादि प्रक्रियाओं ने कहीं ना कहीं पारिवारिक

संरचना को प्रभावित किया है। यह प्रभाव परिवार के आकार, पति–पत्नी, भाई बहन, माता–पिता एवं बच्चों के संबंधों पर दिखाई देता है। पारिवारिक संरचना पर अध्ययन करने वाले विद्वान इस विषय पर सोचने को मजबूर हो गए हैं कि क्या संयुक्त पारिवारिक प्रणाली नाभिकीय परिवार में रूपांतरित हो गई है (क्लेटन, 1979)।

साधारणतः यह देखा जाता है कि किसी भी समाज की उन्नति एवं प्रगति उसकी अवसंरचना में निहित होती है। अवसंरचना का सबसे मुख्य भाग सड़कों के निर्माण में निहित है। राजमार्गों के निर्माण के लिए भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया उन ग्रामीण परिवारों को प्रभावित करती है जिनका जीवन–यापन कृषि पर निर्भर है, क्योंकि भूमि उन परिवारों के लिए सिर्फ एक संपत्ति ना होकर सामाजिक पहचान एवं पारिवारिक संरचना का अटूट हिस्सा होता है। कृषि ग्रामीण समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता है एवं साथ ही साथ संयुक्त परिवार ग्रामीण समाज की विशेषता है। इस प्रकार कृषक समाज एवं संयुक्त परिवार में एक सहजीवी संबंध विकसित हो गया था (सिंह 2006 4.297)[1]

सड़कों यथा राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास ने ग्रामीण समाज के सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों को प्रभावित किया है। आवागमन के साधनों के विकास ने ग्रामीण पारिवारिक संरचना को भी प्रभावित किया है। यथा

सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, के०जी० के० (पी०जी०) कॉलेज, मुरादाबाद

2. समाजशास्त्र विभाग, के०जी० के० (पी०जी०) कॉलेज मुरादाबाद

शहरीकरण– देश में शहरी आबादी का अनुपात निरंतर बढ़ते हुए देखा जा रहा है। वर्तमान में लगभग 32 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती है (जनगणना 2011)। शहरीकरण ने केंद्रीय पारिवारिक प्रणाली को हतोत्साहित किया है। शहरों की भीड़–भाड़ निम्न आय समूह की आवास व्यवस्था ने बड़े परिवार की व्यवस्था को प्रभावित किया है। संयुक्त परिवार के टूटने से युवा एवं वृद्ध आश्रितों का जीवन भी प्रभावित हुआ है। जीवन अवसर में सुधार हेतु ग्रामीणों का शहरी प्रवास प्रायः देखा जाता है क्योंकि गांव में अवसरों की कमी होती है। इस कारण भी पारिवारिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखा जा सकता है (परेरा, 1992)।

आर्थिक विकास– आवागमन के नए साधनों तथा राजमार्गों के विकास के फलस्वरुप ग्रामीण समाज में जहां कृषि आर्थिकी का मुख्य साधन था, नये–नये साधन उपलब्ध हो गए। परंपरागत कृषि का स्थान नगदी फसलों ने ले लिया। जो भूमि अभी तक केवल खेती के लिए उपयोग की जाती थी उनका स्थान आय के अन्य साधनों यथा दुकान, कालोनियों, ऑफिस, माल के निर्माण का कार्य हो रहा है (सोजा, 2000)।

शिक्षा का प्रसार– शिक्षा व परिवर्तनकारी शक्ति है जिसने परिवार की संरचना एवं आपसी संबंधों को प्रभावित किया है। इसके फलस्वरूप युवा चेतना एवं महिला सशक्तिकरण में वृद्धि हुई। महिलाएं अब पारिवारिक निर्णयों में

शामिल होने लगी (सिंह, 2017)। विवाह की परंपरागत व्यवस्था बाल–विवाह का स्थान विलंब विवाह ने ले लिया (कुमार, 2018)। परिवार नियोजन के साधनों से स्वास्थ्य में सुधार हुआ है जिससे परिवार की आर्थिक अवसरों में वृद्धि हुई एवं स्थिरता का विकास हुआ (शर्मा, 2020)।

आधुनिकीकरण– गांव की संरचना परंपरावादी है लेकिन गांव आधुनिकता से बिल्कुल अछूते हैं ऐसा कहना सर्वथा अनुचित होगा। यातायात के साधनों रेल, मोटर आदि ने वहां आधुनिकता में वृद्धि की है। अब गांव परंपरावादी जड़ एवं स्थिर न होकर परिवर्तनशील हो गए हैं। परिवार का संबंध वंश एवं जाति से था जिसमें परिवार दृष्टिगोचर हो रहा है। सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता को महत्व दिया जाने लगा है। अब लिंग एवं आयु के आधार पर अधिकारों का निर्धारण ना होकर योग्यता एवं ज्ञान के आधार पर हो रहा है। परिवारों में स्त्रियों का महत्व बढ़ा है (दुबे, 1988)।

जनसंख्या नियंत्रण– जनसंख्या वृद्धि एक गंभीर समस्या है. जिसके साथ भारत जूझ रहा है। यह इसलिए कि यह विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, व्यक्तियों के व्यवहारों एवं सामाजिक दशाओं को प्रभावित करता है। भारतीय समाज में बेरोजगारी, निर्धनता, गंदी बस्ती, अपराधों में वृद्धि, संयुक्त परिवारों का विघटन, नगरीकरण में वृद्धि आदि जनसंख्या वृद्धि का ही परिणाम है।

प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण पारिवारिक संरचना में हो रहे नित्य नए परिवर्तनों को जानना है पारिवारिक संरचना को प्रभावित करने के लिए बहुत से कारक जिम्मेदार हैं लेकिन प्रकार विकास की प्रक्रिया में राजमार्गों का तीव्र विस्तार हो रहा है इस विस्तारीकरण ने समाज की संरचना को प्रभावित तो किया ही है साथ ही साथ परिवार की संरचना को भी प्रभावित किया है।

राजमार्गों के पास रहने वाले परिवार संयुक्त परिवार प्रणाली से एकल परिवार प्रणाली में परिवर्तित हुए है?

2. भूमि उपयोग परिवर्तन ने ग्रामीण परिवारों की आर्थिकी और आपसी संबंधों को कैसे प्रभावित किया है ?

समस्या की पहचान परिवार समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार की महत्ता को पहचानते हुए समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट ने इसे समाज की आधारभूत इकाई कहा है। विकास की अनेकों प्रक्रियाओं ने परिवार को प्रभावित किया है। राजमार्गों के तीव्र विकास ने नगरीकरण, आर्थिक विकास, आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को बढ़ावा दिया है। इसके फलस्वरुप पारिवारिक संरचना, आपसी संबंधों में परिवर्तन एवं संयुक्त की भावना आहत हुई है।

साहित्य–समीक्षा– ग्रामीण परिवारों में परिवर्तन के विभिन्न आयामों पर अनेकों साहित्य उपलब्ध हैं। इस विषय पर कुछ महत्वपूर्ण साहित्य निम्न

कपाड़िया (1956) रुरल फैमिली पैटर्न में नगरीय एवं ग्रामीण परिवारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। गुजरात राज्य के सूरत नगर के समीप 15 गांव के 1345 परिवारों को जिसमें 18 फीसदी नगरीय और 82 फीसदी नगर के समीप के ग्रामीणों को सम्मिलित किया। निष्कर्षतः इन्होंने बताया कि गांव में अभी भी

परिवार एकल परिवार में नहीं बदला है। यह परिवर्तन जातियों के विभिन्न आर्थिक क्रियाकलापों में परिवर्तन के कारण दिखाई दे रहा है।

लैंबर्ट (1960) ने अध्ययनोंपरांत् बताया कि नगर के समीप गांव की संरचना में जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह केवल नगरीकरण का परिणाम नहीं बल्कि समयगत सामान्य परिवर्तन है। ग्रामीण संरचना में परिवर्तन का सबसे मुख्य कारण भूमि अधिकार में होने वाला परिवर्तन है।

रॉस (1981) श्दि हिंदू फैमिली इन इट्स अर्बन सेटिंगश में बंग्लौर के उच्च एवं मध्यम वर्ग पर अध्ययनोंपरान्त पाया कि भारतीय परिवारों में हो रहे परिवर्तन का कारण नगरीय दबाव है। जिसके कारण परिवार की भूमिका प्रत्याशायें, कर्तव्य, शक्ति एवं सत्ता नियंत्रण परिवर्तित हो रहा है।

गोरे (1968) श्अर्बनाइजेशन एंड फैमिली चेंज में दिल्ली के अग्रवाल परिवारों का अध्ययन किया और बताया कि नगरीकरण औद्योगीकरण के परिणाम स्वरुप नगरीय निवास, शिक्षा का स्तर, परिवहन का स्तर प्रभावित हुआ है। लोग पारिवारिक संबंधों के बजाय दांपत्य संबंधों को महत्व देने लगे हैं। इसके साथ ही लोग परंपरागत प्रतिमानों को भी मानते हैं और सीमित परिवर्तन के पक्ष में है।

सिंह (2006) श्भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण में भारतीय परंपराओं में हो रहे परिवर्तनों को रेखांकित किया है। प्रौद्योगिकी की विकास एवं आर्थिक अधिसंरचना में परिवर्तन का प्रभाव पारिवारिक परंपरा यथा संरचना एवं प्रकार्य पर पड़ा है।

सेनगुप्ता एवं रौट (2007) ने अपने शोध पत्र में कनेक्टिंग यातायात सेवा के निकट रहने वाले लोगों की सामाजिक आर्थिक तथा गरीबी एवं कल्याण पर राजमार्गों के विकास के प्रभाव का अध्ययन किया। उनके अनुसार राजमार्गों से घर की दूरी का सीधा संबंध घरेलू स्तर के कल्याण संकेतको से है।

विश्वास (2012) ने अपने लेख श्हाउसिंग इंफ्रास्ट्रक्चर इन रूरल इंडिया में कहा कि ग्रामीण आवास का विकास गरीबी उन्मूलन का 4443ध्4 158.09ः बहुआयामी रणनीति है। इसके द्वारा आजीविका का अवसर बढ़ाया जाता है जो ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी विकास के साथ–साथ समावेशी विकास को बढ़ावा दे रहा है।

जायसवाल एवं साहा (2014) ने बताया कि नगरीकरण के फलस्वरुप ग्रामीण जीवन में सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहा है। नगरीय संपर्क के कारण व्यक्तिवादिता, आर्थिक, व्यापारिक गतिविधियां आदि सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे है। सरकारी प्रयासों यथा यातायात, संचार, शिक्षा, हाउसिंग अवसरों में सुधार के फलस्वरूप नगरीय जनसंख्या में तेजी से वृद्धि दृष्टिगोचर हो रही है।

अग्रवाल एवं उपाध्याय (2014) प्रोजेक्ट इंफ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट ऑफ विलेज में गांव में शहरी सुविधाओं का अध्ययन किया। इसमें इन्होंने भौतिक, सामाजिक, बुनियादी ढांचे के संबंध में गांवों की समस्या एवं आवश्यकताओं की चर्चा की।

घोष (2017) ने अपने लेख में भारत के 16 प्रमुख राज्यों में ग्रामीण बुनियादी सुविधाओं का मूल्यांकन किया। इनका कहना है कि ग्रामीण भारत में बुनियादी ढांचे के विकास के सार्वजनिक पहलुओं के बावजूद राज्यों में अलग–अलग संकेतों के साथ प्रगति संतोषजनक नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि विकास की प्रक्रिया में ग्रामीण परिवार और ग्रामीण समाज प्रभावित होता रहा है। विभिन्न विद्वानों ने नगरीकरण, आधुनिकीकरण, प्रौद्योगिकी आदि की परिप्रेक्ष्य में इन प्रभावों का अध्ययन किया है। इन अध्ययनों के अपने अलग–अलग उद्देश्य रहे हैं। वर्तमान में राजमार्गों, फोर लेन एक्सप्रेस वे आदि के विकास ने परिवर्तन का एक नवीन आयाम पैदा किया है।

शोध पद्धति– यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले के मुरादाबाद तहसील के दो गांव मंगूपुरा, मनोहरपुर का किया गया है. जो राष्ट्रीय राजमार्ग 9 के नजदीक हैं। दोनों ही गायों में बड़े पैमाने पर जमीनों का अधिग्रहण हाईवे बनाने के लिए किया गया था।

इन दोनों गांव के चयन का मुख्य कारण इन दोनों गांवों में परिवार और सामाजिक व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन भूमि अधिग्रहण के बाद देखा गया जबकि यह दोनों गांव शहर से ज्यादा दूर नहीं होते हुए भी विकास से दूर थे।

प्राथमिक आंकड़ों के स्रोत के लिए प्रत्येक गांव से उन 10 घरों का चयन किया गया जिनकी जमीन भूमि अधिग्रहण में गई या जो प्रभावित हुए। प्रत्येक घर के मुखिया या मुख्य निर्णय कर्ता का साक्षात्कार साक्षात्कार–अनुसूची के माध्यम से किया गया।

द्वितीयक आंकड़ों के संग्रहण के लिए दैनिक समाचार पत्र, सरकारी दफ्तरों से आंकड़े जुटाए एवं जनगणना 2011 इत्यादि का उपयोग किया गया।

विश्लेषण और निष्कर्ष :–

ग्रामीण समाज एवं ग्रामीण परिवारों पर विस्तृत अध्ययन किये गए हैं, लेकिन भूमि अधिग्रहण के संदर्भ में ग्रामीण समाज एवं ग्रामीण परिवारों में परिवर्तन से संबंधित बहुत ही कम अध्ययन किये गए हैं।

वर्तमान अध्ययन केवल उन परिवारों पर केंद्रित है. जिनकी भूमि राष्ट्रीय राजमार्ग 9 के निर्माण के लिए प्राधिकरण द्वारा अधिग्रहित की गई है या की गई थी। दो गांवों से 20 परिवारों का आंकड़ा एकत्र किया गया। यह माना गया है कि त्योहारों के मौसम में पूरे परिवार के सदस्य अपने मूल स्थान पर मौजूद रहते हैं, आई पी देसाई के कार्यात्मक संयुक्त परिवार की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए। ऐसे गांवों का चयन किया गया है जहां प्राधिकरण द्वारा अधिकतम परिवार की जमीन अधिग्रहित की गई है।

परिवार के मुखिया के साथ साक्षात्कार निर्धारित किया गया है। दो गांवों से कुल 20 परिवारों (प्रत्येक से 10) का चयन किया गया है। साक्षात्कार अनुसूची में उनकी सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के साथ–साथ भूमि अधिग्रहण के बाद परिवार की आर्थिक स्थिति और पारिवारिक संरचना से संबंधित 12

प्रश्न हैं। वर्तमान अध्ययन में पाया गया है कि 87: परिवार अब परिवार टूटने के संकट का सामना कर रहे हैं। परिवार अब संयुक्त के बजाय एकल परिवार बनना पसंद करते हैं। कुल 81: परिवार जो पहले संयुक्त थे, अब एकल परिवार बन गए हैं। उपरोक्त निष्कर्षों से भूमि अधिग्रहण के साथ–साथ बड़ी राशि परिवार टूटने का कारण है क्योंकि परिवार के मुखिया के खाते में जमा धन के समान वितरण की मांग है, चाहे वह कोई भी हो। इसका मतलब है कि मूल कारण धन वितरण है। भूमि अधिग्रहण अधिनियम–2013 के तहत बड़ी राशि नव परिवर्तित एकल परिवार का मूल है। यहां एक ही स्थान पर रहने वाले परिवार अब मूल एकल परिवार बन गए है, इसके विपरीत जो परिवार चले गए हैं वे अब कार्यात्मक रूप से संयुक्त परिवार की तरह व्यवहार कर रहे है। जैसा कि आई.पी. देसाई के अनुसार संयुक्त परिवार में सह–निवास और साझा रसोई का उतना महत्व नहीं है, जितना कि अंतर पारिवारिक संबंधों का है। उनका मानना है कि जब दो परिवार अलग–अलग रहते हैं, लेकिन एक ही प्राधिकरण के अधीन काम करते हैं, तो वह संयुक्त परिवार होगा। वे इसे कार्यात्मक संयुक्त परिवार कहते हैं। जैसा कि इस अध्ययन में दिखाया गया है कि दोनों गांवों में परिवार अभी भी कार्यात्मक रूप से संयुक्त हैं। लगभग 80: परिवार कार्यात्मक रूप से संयुक्त हैं।

इसके अलावा यह भी देखा गया है कि परिवार के मुखिया भूमि अधिग्रहण से बहुत खुश नहीं है, क्योंकि भूमि के साथ उनका भावनात्मक लगाव है, जबकि इसके विपरीत 50 वर्ष से कम आयु के युवा या व्यक्ति मुआवजे की राशि से बहुत खुश हैं। वास्तविकता यह है कि जो लोग भूमि को अपनी मां की तरह पालते हैं, उनका भावनात्मक लगाव बहुत अधिक होता है,

जबकि भूमि के फलों का आनंद लेने वालों का भूमि के साथ केवल भौतिकवादी लगाव होता है।

इस अध्ययन में भौतिकवादी जीवनशैली से जुड़ी पीढ़ीगत खाई को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राजमार्गों के निर्माण के लिए भूमि अधिग्रहण अब परिवारों को कैसे विभाजित कर रहा है।

इस अध्ययन में पाया गया एक और बदलाव कृषि भूमि का व्यावसायीकरण है। गांव में अब हर कोई उम्मीद कर रहा है कि उनकी जमीन अधिग्रहित की जाएगी। बाकी जमीन का इस्तेमाल व्यावसायिक गतिविधियों के लिए किया जा रहा है क्योंकि राजमार्गों के कारण तेज आवाजाही को बढ़ावा मिलता है और साथ ही व्यावसायिक गतिविधियों भी बढ़ती है। खाद्य सुरक्षा जैसे मुद्दों को संबोधित करने के लिए भूमि का व्यावसायीकरण सबसे महत्वपूर्ण पहलू रहा है। इस तरह से राजमार्ग विकास व्यावसायिक गतिविधियों और कृषि भूमि को बढ़ावा देता है जो लंबे समय में खाद्य सुरक्षा मुद्दों जैसी चुनौतियों का कारण बन सकता है। भारत में हरित क्रांति के जनक एम.एस. स्वामीनाथन ने 2015 में इस बात पर जोर दिया था कि खाद्य सुरक्षा को सुरक्षित रखने की जरूरत है और प्रमुख कृषि भूमि को पूरी तरह से खेती के उद्देश्यों के लिए संरक्षित किया जाना चाहिए। इस अध्ययन

में पाया गया है कि राजमार्ग के किनारे की लगभग सभी जमीनों का इस्तेमाल अब व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है, पहले यह पूरी तरह से खेती के उद्देश्यों के लिए थी।

संदर्भ : –

1. बर्टरैड, ए. एल. (संपा.) (1958) रूरल सोशियोलॉजी, मैग्राहिल बुक कंपनी
2. क्लेटन, आर आर (1979) दि फैमिली मैरिज एंड सोशल चेंज लेगिंगटन
3. सोजा, ए. डब्लू (2000) पोस्टमेट्रोपोलिसः क्रिटिकल स्टडीज ऑफ सिटीज एंड रीजंस ऑक्सफोर्ड ब्लैकवेल पब्लिशर्स
4. सिंह. जे.पी. (2006). समाजशास्त्र अवधारणा एवं सिद्धान्त प्रेटिंग हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
5. सिंह, वाई. (2006). भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण (अनु, अग्रवाल, ए. के.) रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
6. कपाडिया, के. एम. (1956) रूरल फेमिली पैटर्न, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड–51
7 लैम्बर्ट (1960), वर्किंग विथ पीपुल इन स्माल कम्यूनिटीस, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क।

रॉस. ए.डी. (1961) दि हिन्दू फेमिली इन इट्स अर्बन सेंटिंग. यूनिवर्सिटी ऑफ टोरंटो प्रेस।

9. गोरे, एम.एस. (1968) अरवनाइजेशन एण्ड फेमिली चेंज' पापुलर प्रकाशन, बाग्वे, पृष्ठ–48।
10. सेनगुप्ता, आर, एवं रौट, बी. (2007) इम्पैक्ट ऑफ ए हाईवे ऑन द सोशियो–इकोनामिक वैल–वीइंग ऑफ रूरल हाउसहोल्ड लीविंग इन प्रोक्सीमिटी, कन्टेम्पोरेरी इश्यू एण्ड आईडियाज इन सोशल साइनसेज, नई दिल्ली।
11. विश्वास, ए.के. (2012) हाउसिंग अनफ्रास्ट्रक्चर इन रूरल इण्डिया, कुरुक्षेत्र, नई दिल्ली।
12. जायसवाल, डी.एन. एवं साहा, एस. (2014). अरबनाइजेशन इन इण्डिया एन इम्पैक्ट ऐसरामेन्ट इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड सोशियोलॉजी, 4(2), 62–65
13. अग्रवाल, एस.के.पी. एवं उपाध्याय, डी. एस. (2014) इन्फ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट ऑफ विलेज, ब्लू आई इनटेलीजेस इन्जीनियरिंग एण्ड साइंस पब्लिकेशन प्राईवेट लिमिटेड
14 घोष एम. (2017) इनफ्रास्ट्रक्चर एण्ड डेवलपमेंट इल रूरल इण्डिया, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201103 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण

e-mail : shivnarayan22@yahoo.com